जैनधर्म
सिद्धांत और आराधना

लेखक डॉ. शीतलचन्द्र जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्म लेखन पुष्प–३

सर्वाधिकार : लेखक

जैनधर्म सिद्धांत और आराधना

लेखक :

डॉ. शेखरचन्द्र जैन

एम. ए., पी-एच. डी., एल-एल. बी., साहित्यरत्न

अध्यक्ष : हिन्दी विभाग

श्रीमति सद्गुणा सी. यु. आर्ट्स कॉलेज फोर गर्ल्स

अहमदाबाद

*

प्रकाशक :

समन्वय प्रकाशन

६, उमियादेवी सोसायटी नं.-२ अमराईवाडी,

अहमदाबाद-३८००२६ दूरभाष : ३६८०११

*

प्रोत्साहन पुरस्कार

केवल १५ रुपए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

अध्याय-१ प्रथमखंड सिद्धांतपक्ष

जैनधर्म : सामान्य परिचय	पृष्ठ
शाब्दिक एवं विशेष अर्थ	१
धर्म क्या है ?	२
धर्म और सम्प्रदाय ।	४
जैनधर्म क्यों ?	७
हम जैन क्यों ?	८
जनधर्म में भगवान ।	११
जैनधर्म की विशिष्टता ।	१४
जैनधर्म की प्राचीनता ।	१६
जैनधर्म के प्राण अहिंसा ।	२५
बारहव्रत	
पंच महाव्रत	३०
तीन गुणव्रत	३२
चार शिक्षाव्रत	४२
बारह भावना या अनुप्रेक्षाभावना	५०
जैनधर्म का कर्म सिद्धांत	५८
सप्त (नव) तत्वतीमांसा	७४
स्याद्वाद	९१
त्रिरत्न	१०२
लेश्या	१११

द्वितीय खंड

आराधनापक्ष	पृष्ठ
आराधना की आवश्यकता	११६
देवदर्शन .	११७
दर्शनमंत्र और उसकी महत्ता	११९
पूजा महत्ता और विधि	१२४
प्रक्षाल क्यों ?	१२७
पूजा के प्रकार	१२७
आरती	१३१
शांतिपाठ	१३२
सामायिक एवं (जैनयोग)	१३४
प्रतिक्रमण	१४४
व्रतोपासना	१४७
उपवास	१४७
एकासन (भक्ष्याभक्ष्य)	१५०

मुद्रक : गौतम मुद्रण कार्यालय तिवारी भवन,
आर्यसमाज के पास, अहमदाबाद-२२ (घर) : फोन ३९९४६२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अल्पश्रुतं.....अपनी बात

आध्यात्म संबंधी इस तृतीयपुष्प के द्वितीय संस्करण को आप बहुश्रुत ज्ञानी एवं धर्मप्रेमी बंधुओं के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष भाव से अनुप्राणित हो रहा हूँ ।

यद्यपि मेरा जैनदर्शन में विधिवत अध्ययन बिलकुल नहीं है । तथापि जिज्ञासा से प्रेरित होकर मैंने जो थोडा-सा वांचन–मनन या चिंतन किया उसी का प्रतिबिंब यह मेरा प्रस्तुतीकरण है । पिछले सात–आठ वर्षों से प्रायः सभी जैन आम्नायों द्वारा आयोजित व्याख्यानों में जाता रहा हूँ । दशलक्षण पर्व में भी पूरे दस दिन व्याख्यान देता रहा हूँ । तदुपरांत जैनधर्म दर्शन संबंधी शोध गोष्ठियों में भी भाग लेता रहा–अपने शोधपत्र प्रस्तुत करता रहा । इन सबकी तैयारी के लिए जैन दर्शन को पढ़ने का मौका मिला । यद्यपि अभी इस महासागर से चुल्लूभर भी जलपान नहीं कर पाया पर जितना भी मिला उसमें उत्तरोत्तर जानकारी की जिज्ञासा ही बढ़ी । जो कुछ पढ़ा उसे जिज्ञासुओं के सन्मुख प्रस्तुत किया या लिखा । ऐसे ही व्याख्यानों और लेखों का संग्रह प्रथम पुष्प के रुप में "मुक्ति का आनंद" (हिन्दी में) तथा "मुक्ति नो आनंद" (गुजराती में के नाम से प्रकाशित हुआ । इसका जैनाजैन समाज में उचित आदर हुआ । यह आदर मेरे लिए प्रेरणादायी सिद्ध हुआ । इसी प्रकार जैन भाईयों को विशेषकर युवकों को जैन धर्म की सरल और वास्तविकता से परिचय कराया जा सके, वे धर्म को सत्य और तथ्य के परिप्रेक्ष्य में देखना सीखें इसलिए प. पू. आ. मेरुप्रभसूरीजी की प्रेरणा से गुजराती में "जैनाराधनानी वैज्ञानिकता" के नाम से दूसरा पुष्प प्रकाश में आया । श्वेतांबर समाज में इसका बड़ा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वागत हुआ । चूकि यह पुस्तक गुजराती में होने से हिन्दी भाषी लोग उसके वांचन से वंचित रहे ।

पिछले एक वर्ष से यही विचार निरंतर उभरता रहता था कि एक ऐसी पुस्तक प्रस्तुत करूं जिसमें जैनधर्म के मुख्य सिद्धांत एवं उसकी आराधना पद्धति को सरल और संक्षिप्त ढंग से प्रस्तुत करूँ ।

सिद्धांत पर अनेक वृहद सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन लिखे गये हैं । पर मैंने उन्हीं विशेष सिद्धांतों की सरल ढंग से चर्चा की है । सिद्धांतपक्षकी आगम सम्भवता को बनाये रखकर उन्हें सही रुपसे समझाने के लिए धर्मकी क्रियाओं को भाषा की सरलता एवं वर्तमानयुग के साथ जोड़कर रखने का प्रयास किया है ।

इसी प्रकार आज के भौतिकवाद से आक्रांत, धर्मको ढकोसला माननेवालों को तथा क्रियाकांड के प्रति घृणा भाव रखनेवालों को वैज्ञानिकता यथार्थता एवं आवश्यकता को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है । किसी भी धर्मका प्राथमिक उद्देश्य तो मानव को पूर्ण मानव बनाना है । इसी मानवता का चरमविकास सकरते हुए वह स्वयं भगवान बनता है । इस प्रकार मानव से भगवान बनने का प्रयत्न ही धर्म की आराधना है । वैसे गुजराती पुस्तक के अनेक अंश इसमें प्रस्तुत किए हैं । मेरा आशय हिन्दी भाषी जैनबंधुओं के पास जैन धर्म के प्राथमिक सैद्धांतिक एवं क्रियात्मक तथ्यों को पहुँचाना ही है । यदि एक प्रतिशत लोग भी पूर्वाग्रह को छोड़, धर्म के अंतरंग भावों को समझें तो अपना परिश्रम सार्थक मानूंगा । भक्ष्याभक्ष्य को ढोंग माननेवाले रात्रि–भोजन के समर्थक या देव-शास्त्र गुरू के दर्शन वंदन को नकारने वालों को प्रेरणा मिल सके तो मैं अपने आपको धन्य मानूंगा । मेरा विश्वास ही नहीं दावा है कि जैनधर्म के सिद्धांतो को समझकर आराधना के माध्यम से जो इनपर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरुढ़ होगा–वह मानसिक शांति, संतोष एवं सरलता को अवश्य प्राप्त करेगा। एक बार प्रयोग तो कीजिए। तीर पर–खड़े होकर मोती कैसे मिलेंगे ? गोता लगाइए...जीवनका मोह छोडकर जल में डूबिए मोती अवश्य पायेंगे।

इस पुस्तक से नइ बात दे रहा हूँ ऐसा मेरा कोई दावा नहीं, और इसमें मेरी विद्वता है यह कहने का भी मेरा अधिकार नहीं है। परंतु सरलता से कहने का प्रयास अवश्य मेरा श्रम है।

वर्तमान युग में लिखना तो थोडा सरल है, पर प्रकाशन कठिन कार्य हो गया है। लेखक अधिक परेशानियों के कारण प्रकाशन कैसे कराये ? पर, धर्म की श्रद्धा मार्ग निकाल ही देती हैं।

प्रथम संस्कारण अहमदाबाद में १९८४ में सम्पन्न गजरथ महोत्सव समिति की प्रेरणा व आंशिक आर्थिक सहयोग से हुआ था। कृति का विमोचन शास्त्री परिषद के अधिवेशन में श्रेष्ठीवर्य श्री निर्मलकुमार श्री शेठी के करकमलोंसे –स्व. पं. बाबूलालजी जमादार, डॉ. लालबहादुरशास्त्री एवं गुजरात के पूर्व गृहमंत्री श्री प्रबोधभाई रावलकी उपस्थिति में हुआ था।

द्वितीय संस्करण के प्रकाशन में सन १९९० में उदयपुर में एवं १९९१ में अहमदाबाद के हाटकेश्वर में श्री पार्श्वनाथ दिगंबर जैन मंदिर में आयोजित पर्यूषण व्याख्यान के स्मृति स्वरुप है।

पुस्तक में समाहित विषय आम जिज्ञासुओं को जैनधर्म को प्रारंभिक ज्ञान एवं नित्य नियम क्रियाओं का ज्ञान प्रदान करता है। इस आवश्यकता को ध्यान में रख दोनों स्थानो (उदयपुर–अहमदाबाद) के धर्मप्रेमियों ने इस ज्ञान प्रसार हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान किया। अतः इन सबका अन्तःकरण पूर्वक आभारी हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण को प्रकाशन इस तथ्य का प्रतीक हैं कि पुस्तक आप लोगों को उपयोगी लगी । यही मेरा सबसे बड़ा संतोष हैं ।

इस पुस्तक में जो भी उत्तम हैं-वह शास्त्रों का दोहन है और जो भी त्रुटियां हैं वे मेरी अल्पबुद्धि के कारण हैं । मैंने प्रारंभ ही इन शब्दों से किया हैं

"अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहास धाम....."

पर जिनेन्द्रदेव का परोक्ष मुनिवरों का प्रत्यक्ष आशीर्वाद एवं आप सबकी सद्भावना मुझें इस प्रस्तुतिकरण के लिए वाचाल बनाती रही । प्रभू से प्रार्थना है कि ऐसी वाचालता बनाये रहे ।

—डॉ. शेखरचंद जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय संस्करण के अर्थ सहयोगी

* महावीरप्रसाद चित्तौडा- २४१, अशोक नगर रोड १६, उदयपुर

आप स्व. श्री लक्ष्मीलालजी चित्तौडा के सुपुत्र हैं व उदयपुर में ही गोटा-किनारी, सोना-चांदी के व्यवसाय में हैं। सामाजिक कार्यों में रुचिशील हैं।

*

* श्री शांतिलालजी (गौधा) जैन -५२, अशोकनगर, उदयपुर-३१३००१

आप रविन्द्रनाथ टेगोर आयुर्विज्ञान महाविद्यालय में चीफ नर्सिंग सुपरिन्टेन्डेन्ट हैं। दिगम्बर जैन बीस पन्थ खन्डेलवाल समाज के २० साल से अध्यक्ष हैं।

*

* श्रीकमलकुमार जैन (चित्तौडा)-२७५, अशोकनगर रोडन'१०, उदयपुर

आप तेल आदि के थोक व्यापारी और चित्तौडा जाति के अध्यक्ष हैं।

*

* सोहनलाल पलावत जैन (चित्तौडा)-१४४, अशोकनगर रोड८, उदयपुर

आप भी तेल के थोक व्यापारी हैं। शान्त स्वभाव व धर्म में रुचिशील हैं।

*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

* शंकरलाल रामलाल जैन -मूल निवासी गुडली (उदयपुर) वर्तमान A २५, पवित्रकुञ्ज सोसायटी, रामोल्रोड, अहमदाबाद-२६

हार्डवेर के व्यापारी, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मंदिर के मंत्री, दिगबर जैन समाज, अहमदाबाद के संगठन मंत्री तथा उत्साही धार्मिक कार्यकर्ता ।

*

* श्रीख्यालीलाल जवानमल जैन -मूल निवासी मोडी(उदयपुर)वर्तमान अहमदाबाद, ११-१२, नील दर्शन सोसायटी, गेार के कुवें के पीछे, मणीनगर, अहमदाबाद-८

खाद्य तेल व घी के थोक व्यापारी, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मंदिर हाटकेश्वर के उपप्रमुख, स्वावलंबी, धार्मिक युवा कार्यकर्ता ।

*

* श्री उदयलालजी नंदलालजी मूल निवासी गुडली(उदयपुर) वर्तमान १६, गंगामैया सोसायटी, हाटकेश्वर, अहमदाबाद-८

किराने के व्यापारी, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मंदिर हाटकेश्वर की कार्यकारिणी के सदस्य, धार्मिक जीवन समाज के प्रतिष्ठित बुजुर्ग ।

*

* श्री पारसमल खेमचन्दजी जैन मूल निवासी गुडली (उदयपुर) वर्तमान अहमदाबाद A/३ पवित्रकुंज सोसायटी, रामोल रोड, अहमदावाद ३८०० २६

किनाने के व्यापारी, श्री पार्श्वनाथ दि जैनमंदिर हाटकेश्वर के प्रमुख गुडली दि. जैन मंदिर के ट्रष्टी सामाजिक कार्यकर्ता उत्साही युवा कार्यकर ।

*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म : सामान्य परिचय

शाब्दिक एवं विशेष अर्थ -

जैनधर्म को साधारणतया इस देश का विशाल जन समुदाय मात्र महावीर के आदर्शो या सिद्धांतो को मानने वाले थोडे से लोगों का धर्म मानते हैं। हिन्दू धर्मावलंबियों ने इसे नास्तिक या वेदविरोधी धर्म मानकर उसके प्रति तिरस्कार का भाव भी व्यक्त किया, परिणाम स्वरुप इस धर्म का प्रसार-प्रचार जितना होना चाहिये उतना नहीं हो सका। इतना ही नहीं एक विशाल जनसमुदाय सत्य और वास्तविकता से अनभिज्ञ रह गया। इस पूरे तथ्य की तर्कबद्ध चर्चा जैनधर्म की विशिष्टता एवं प्राचीनता के संदर्भ में करेंगे।

जैनधर्म के सिद्धांत और आराधना पक्षको समझने से पूर्व हम संक्षिप्त में 'जैन' और धर्म शब्दों पर विचार करेंगे। 'जैन' शब्द स्वयं में एक विशेषण भी है और क्रियाका द्योतक भी है। जिन अर्थात जिन्होंने जीता है। प्रश्न है क्या जीता ? उत्तर मिलता है कि जिन महापुरुषोंने अपनी इन्द्रियों को जीता है, मनको जीता है—कषायों को जीतकर जो जितेन्द्रिय बने हैं वे ही जिन हैं। जो व्यक्ति ऐसे जितेन्द्रिय 'जिन' के आदर्शों मूल्यों का अनुगामी है-वही जैन है। दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसे महापुरुषों द्वारा स्थापित मूल्यों को अपने जीवन में उतार कर जिनत्व की ओर प्रयाण कर रहा है वही जैन है। इस प्रकार गुणों को स्पष्ट करने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण यह शब्द विशेषण भी है और आचरण की महत्ता के कारण क्रिया का परिचायक भी । इसी प्रकार धर्म शब्द को भी समझने का प्रयास करेंगे तो स्पष्ट होगा कि किसी भी वस्तुको उसके यथा स्वरुप और गुणों के रुप में ही जानना और मानना सो धर्म है । यों भी कहा जा सकता है कि वस्तु के मूल स्वरुप को समझना और उसका ग्रहण करना ही धर्म है । वैसे धर्म शब्दकी अनेक व्याख्यायें की गई हैं जिनकी विशद चर्चा आगे की जायेगी । पर, यहां इतना ही समझना है कि 'जिनों' द्वारा कथित और प्रणीत तत्वों को जानना, समझना और श्रद्धा करना ही धर्म है । इस प्रकार जैनधर्म का यह अभिप्रेत अर्थ किया जा सकता है कि जितेन्द्रीय पुरुषों द्वारा प्रणीत तत्वों का स्वीकार और आचरण ही 'जैनधर्म' का स्वीकार व आचरण है ।

इस देश में जितने विरोधों का सामना 'जैनधर्म' को करना पढ़ा शायद ही किसी धर्म को करना पडा हो । पर, इस विरोध ने उसे अधिक दृढ़ बनाया यह सत्य है कि उसका प्रचार संख्या की दृष्टि से कम हुआ, परंतु जितना हुआ, उतना पूर्णतया ही हुआ । 'जैनधर्म' के सिद्धांत इतने वैज्ञानिक एवं प्रयोगसिद्ध रहे कि कालातीत होकर भी वे उतने ही चिर नवीन हैं । यही कारण हैं कि 'धर्म' शब्द सदैव स्थिर एवं स्पष्ट रहा ।

धर्म क्या है ? –

वर्तमान समय में धर्म शब्द क्रियाकांड का पर्यायवाची बनकर रह गया है । उदाहरण के तौर पर रात्रि भोजन न करना, कंदमूल न खाना, उपवास या पूजा करना आदि । स्थूल रुप से इसे धर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा है । परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो यह धर्म की व्याख्या से बहुत दूर है । यह व्यवहारिक रुप हैं । धर्म तो इस मान्यता से अत्यन्त उच्च और वैज्ञानिक वस्तु है । आचार्यों ने कहा है–"प्राणियों को संसार के दुख से बाहर निकालकर जो उत्तमसुख (वीतरागावस्था) में प्रस्थापित करे वही धर्म है । ऐसा धर्म समस्त कर्मों का विनाशक होता है । धर्म चतुर्गति के जन्म–मरण से मुक्ति प्रदानकर दुःखों से मुक्त करता है और शुद्धात्म भाव में लीन बनाता है । शुद्धचैतन्य स्वरुप में स्थापित करके उद्धारक बनता है– मोक्ष तक पहुँचाने में सहायक बनता है । सर्वार्थसिद्ध में धर्म का लक्षण बतलाते हुऐ आचार्य कहते हैं– जिनेन्द्रदेव ने अहिंसा युक्त लक्षण को धर्म कहा है । सत्य जिसका आधार है । विनय जिसकी जड़ है, क्षमा जिसका बल है । जो ब्रह्मचर्य से रक्षित है, उपसम जिसकी प्रधानता है और नियति जिसका लक्षण है । निष्परिग्रहता जिसका अवलम्ब है ।

आचार्यों ने स्व–आत्माकी परख को ही धर्म कहा है । इस कथन का अभिप्रेत है कि आत्मा को मूलतः निराकार, स्वतन्त्र, निष्काम सच्चिदानंद स्वरुप अजर अमर स्वरुप में ही स्वयं का कर्ता भोक्ता माना जाये । संसार की विषम विषय वासनाओं में आवृत यह जीव मोहवश सत्य को भूल जाता है और बाह्यस्थूल शरीर के ध्यान मे ही खोया रहता है । संसार के भौतिक सुखों को ही सुख मानकर अनंत काल तक जन्म–मरण के दुखों को भोगता रहता है । ऐसा जीव सत्य स्वरुप आत्मा को पहचाने यही धर्म है ।

इस सामान्य व्याख्या से इतना तो स्पष्ट हुआ कि संसार सुख प्रदाता तत्व धर्म नहीं हैं । जो उत्तम जीव (मोक्ष) में प्रस्था

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पित कराये वहीं धर्म है । तत्त्वों के प्रति श्रध्धान्वित बनाये व देह से आगे सूक्ष्म शरीर अर्थात आत्मा की ओर उन्मुख कराये वही धर्म है । इस उन्मुखता के लिए आवश्यक कषायों से मुक्ति, संतुलित निर्भयता, समक्ति भाव आदि को उत्पन्न कराने में सहायक हो ।

दूसरी बात यह भी स्पष्ट हो गई कि धर्म और क्रिया कांड नितांत अलग अलग तत्व हैं । इसका अर्थ यह नहीं कि इस आराधना को ही छोड़ दें । इसी तथ्य को आचार्यों ने सापेक्ष दृष्टि से इस प्रकार विभाजित किया है कि एक आत्मा को परखने वाला धर्म निश्चय धर्म है । दूसरा बाह्य आराधना से अन्दर की ओर मुड़ने में सहायक धर्म व्यवहार धर्म है । इसी लिए व्यवहार और निश्चय दो धर्म का उल्लेख हुआ है । इस निश्चय और व्यवहार की चर्चा विस्तार से आगे करेंगे ।

धर्म और सम्प्रदाय –

धर्म शाश्वत होता है । उसमें बदलाव या परिवर्तन नहीं होते यह सभी कालों में स्थित तत्व है । धर्म साध्य है । आत्मा का लक्षण या मूल स्वभाव है । जब कि धार्मिक क्रिया युगानुरुप परिवर्तित भी होती रही है । वे धर्म तक पहुँचने का साधन रही हैं । क्रिया व्यक्तिपरक परिवर्तित होती रहीं जबकि धर्म में यह नहीं हुआ । उदाहरण के तौर पर धर्म अहिंसा है, धर्म सत्य है, धर्म ध्यान है आदि मूल तत्व विश्व की सभी मान्यताओं या दर्शनों में एक ही रहे हैं । क्रियाकांड या व्यक्ति की येषणाओं से धर्म की व्याख्यायें अपने अपने ढंग से कीं गईं–परिणाम स्वरुप धर्म के मूल रुप का ह्रास हुआ और उससे सम्प्रदायें ने जन्म लिया ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धि की कमी या हठाग्रह के कारण सम्प्रदाय धर्म के पर्यायवाची बनने लगे। और फिर सम्प्रदाय ही धर्म के नाम से पहचाने जाने लगे। साधन ही साध्य का स्वरूप ग्रहण करता गया। सत्याभास सत्य का स्थान ग्रहण करता गया।

मानव ने अकेलेपन को छोड़ कर समूह में रहना प्रारम्भ किया समाज का निर्माण हुआ। समाज व्यवस्था के नियम से और उनका पालन कर्तव्य बना। यही कर्तव्य धर्म की तरह आदर्श और महान बने। समाज की ओर उन्मुख व्यक्ति यह नहीं भूला कि समाज के बीच रह कर भी उसे आत्मकल्याण करना है। प्रवाह में द्वीप की तरह जीना है। अतः वह आत्म-परख चिरन्तन धर्म को वह नहीं भूला। दुर्भाग्य यह रहा कि समाज के संगठन में जैसे राजनीति में बलिष्ट का जोर बढ़ा वैसे ही आत्मा और धर्म की अपने ढंग से व्याख्या करने वाले, लोगों के दल बनते गए। परिणाम स्वरूप संप्रदाय जन्म लेने लगे। समाज इस प्रकार वैचारिक कठघरों में बंटा कि ईश्वरोपासना की विविध पद्धतियों के कठघरों में सिमटने लगा और धर्म की सर्वजनीन भावना संप्रदाय की संकुचितता के दायरे में सिमटने लगी। इससे संघर्ष और पृथकत्व जन्मा और तत्व के रूप में उभरा।

धर्म और सम्प्रदाय इतने गड्डमगड्ड हो गये कि हम इसी मिलावट में भटकने लगे। आज धर्म-हिन्दूधर्म, मुस्लिमधर्म, सिखधर्म, बौद्धधर्म, ईसाईधर्म, जैनधर्म आदि के घेरों में बट गया है। इस से हम शब्द जाल में उलझ गये धर्म के सच्चे स्वरूप को जान ही नहीं पाते। सत्य तो यह है कि जिन्हें धर्म के नाम से जान रहे हैं-वे तो मात्र सम्प्रदाय हैं। सम्प्रदाय सदैव संकुचित अर्थ का ही द्योतक है। वह अपनी दायरेगत व्याख्या, मान्यताओं में से बाहर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही नहीं निकल पाता। विश्व के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो सम्प्रदायों के जनून ने भयंकर रक्तपात और हिंसा कराई है। सम्प्रदाय की दृष्टि में धर्म का मंथन करने वाला शुन्य ही प्राप्त करता है। पानी को मथकर घी प्राप्त करने का यह क्षुद्र प्रयास है। सम्प्रदाय का जन्म ही द्वेष से होता है।

प्राचीन युगमें इस देश में वैदिक एवं श्रमण संस्कृतियो में भी धर्म साहित्यकता का प्रतीक था। दोनों के साध्य समान थे। परंतु कालांतर में इन शब्दों का स्थान जैन एवं हिन्दूधर्म ने ले लिया। कुछ बुद्धिवादियों ने अपने अपने ढंग से व्याख्याऐ कीं या मूल व्याख्या को तोड़ा-मरोड़ा। धर्म की व्याख्या में क्रिया-कांड या भौतिक सुखों का मिश्रण कर लोगों को भ्रमित किया और नये-नये पंथ प्रस्थापित करते गये। 'मैं' की सच्चाई का एकांत कथन करने लगे। अधिपत्य की भाषा ने जन्म लिया। संघर्ष बढे. धर्म टूटा, सच्चे धर्म या सम्प्रदाय की काई का आवरण छाने लगा। चमत्कारों की महत्ता बढ़ी। क्रियाकांड मुख्य हो गये। आत्मा बिना के शरीर की पूजा होने लगी। धर्म के नाम पर व्यभिचार फूलने लगा। चार्वक जैसे भी इसी कारण आचार्यत्व पा सके।

यदि प्रत्येक सम्प्रदाय के मूल में उसके दर्शनपक्ष की समीक्षा की जाये तो स्पष्ट होता है कि अंततोगत्वा सभीने मानव की मुक्ति, आत्मोद्धार एवं मनोविकारों को त्यागने की बात कही है। (चर्चा की त्वचा) क्रियाकांड तो मात्र एक पहचान के साधन होते हैं। भारतवर्ष का दुर्भाग्य ही रहा है कि इसका जितना अहित इन साम्प्रदायिक संघर्षों ने किया उतना किसी आक्रांता ने भी नहीं किया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी संदर्भ में एक बात करनी है कि जैनदर्शन के मूल में आत्मा और मोक्ष की जो संकल्पना है उसे अनेकांत दृष्टि से जान समझने की जो बात है वह आजतक यथातथ्य रुप में है । यही कारण हैं कि जैन साधना-पद्धति में अनेक आम्नाय या सम्प्रदाय जन्मे-पर इन शाश्वत मान्यताओं में कहीं मूल में अन्तर नहीं है । यहां भेद मात्र थोडे क्रियाकांड के भेद के कारण है । । सम्प्रदाय 'धर्म' पर हावी नहीं हो सके । जबकि अन्य दर्शनों में ही भेद है । जैसे हिंदूधर्म में हिंसा-अहिंसा दोनों धर्म के नाम पर चलने वाली क्रिया रही । शक्ति और निराकार भी एक ही धर्म के नाम पर अपने आप को सच्चा कहते रहे ।

इस संदर्भ में इतना ही समझना होगा कि धर्म और सम्प्रदाय नितांत पृथक तत्व है । धर्म आत्मा का स्वभाव हैं । जबकि सम्प्रदाय क्रिया का परिचायक ।

जैन धर्म क्यों ?

ऊपर धर्म और सम्प्रदाय की चर्चा है । एक प्रश्न स्वाभाविक हो सकता है कि यदि जैन सम्प्रदाय है तो फिर जैनधर्म क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर तार्किक रुप से हीं नहीं पूर्ण वैज्ञानिक रुप से यों दिया जा सकता है कि जैन शब्द व्यक्तिवाचक नहीं है । जैन शब्द मूलतः जिन से बना है जिसका अर्थ है कि जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया है वह जिन है । अर्थात अनंत गतियों में भौतिक विकार के कारण जो इन्द्रियां भटकाती हैं, अधोगति में ले जाती हैं उन इन्द्रियों पर जिसने संयम के शस्त्र द्वारा उन पर विजय प्राप्त किया है वह जिन है । ऐसे जिन केवली या तीर्थंकर द्वारा प्रणीत धर्म या दर्शन को समझने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रा मानने वाले जैन हैं। थोडी गहराई से विचार करें तो जैनधर्म सम्प्रदाय की नहीं धर्म की व्याख्या पर खरा उतरता है। हम कह सकते हैं कि आत्माकी मुक्ति के हेतु इन्द्रिय संयम की विशाल भावना जिसमें निहित है वह स्वयं धर्म है। उसकी स्याद्वाद दृष्टि समता, समन्वय एवं सहअस्तित्व को प्रस्तुत करती है। इस प्रकार श्वेतांबर, दिगंबर, स्थानकवासी आदि सम्प्रदाए या आम्नाय हैं पर जैनधर्म स्वयं में पूर्ण धर्म है। सत्य का दिग्दर्शन इसका स्वयं साध्य है।

हम जैन क्यों ?

सामान्यतः जब हम कहते हैं कि हम जैन हैं तब यही माना जाता है कि हम किसी जाति विशेष हैं। मुख्यतः जैन आज वणिक या बनियाजाति का ही दूसरा नाम बन गया है। परंतु यह अज्ञानता एवं भ्रम ही है। हम सत्य और तथ्य से अनभिज्ञ होते हैं। परिणाम यह हुआ कि यह रूढिगत स्वरुप इतना दृढ हो गया है कि इस श्रेष्ठ धर्म के धारक महज बनिया बनकर रह गये। इस सत्य को समझने के लिए पहले यह स्पष्ट जान लेना होगा कि जैन जाति नहीं है अपितु धर्म है। केवली प्रणीत धर्म के सिद्धांतो को मानने वाला एवं आचरण करने वाला जैन है। जैनों को 'श्रावक' कहा गया है। श्रावक की व्याख्या इस प्रकार की गई है, कि जो विवेकवान, विरक्तचित एवं अणुव्रत का धारक है—वह श्रावक है जो गृहस्थजीवन में व्रत नियम का पालन करता है, जो पंचपरमेष्ठी की भक्ति करते हुए दान, पूजन के साथ मूल गुणों को धारण करता हुआ क्रमशः रागादिक भावों को दूर कर इंद्रिय संयम करता है—साथ ही मुनिपद धारण करने की भावना भाते हुए स्वयं मुनि बनने के प्रयत्न करता है। देव—शास्त्र एवं गुरु में श्रद्धा है जो जीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अनावश्यक हिंसा से दूर रहता है । परिमाण व्रत का पालन करता है । अभक्ष्य भोजन को त्यागता है । मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ भाव को धारण करके द्रव्य हिंसा ही नहीं भाव हिंसा का भी त्याग करता है ।

जो भय, स्नेह, लोभ आदि से प्रेरित होकर कुदेव, कुशास्त्र एवं कुगुरू की वन्दना नहीं करता । उत्तरोत्तर निष्परिग्रही बनता जाता है इस त्याग में जिसका मन प्रफुल्लित रहता है । इस प्रकार जो सत्लक्षणों से विभूषित है । वही जैन है । इस व्याख्या में उस हर व्यक्ति का समावेश हो सकता है जो उक्त गुणों का धारक हो भगवान महावीर ने ऐसे गुणों को ग्रहण करने वाले को भव्य जीव मान कर अपने संघ में स्थान दिया ।

उपरोक्त विवेचन से हम जैन एवं श्रावक इन दो शब्दों का अर्थ एवं उनमें सन्निहित भाव को समझ सके । आत्मनिरीक्षण करने पर यह कहा जा सकता है कि हम जन्म से जैन हैं क्योंकि हमने जैन कुल में जन्म लिया है । पर, लक्षणों से हम जैन नहीं हैं । यदि हमें सचमुच जैन कहलाना है या जैन बनना है तो जैनत्व के लक्षणों का अपने में विकास करना होगा ।

इसी प्रकार जैन अर्थात बनिया इस पर भी विचार करना होगा । जैन धर्म का इतिहास साक्षी है कि यह धर्म क्षत्रियों का धर्म रहा । सभी चौबीस तीर्थंकर क्षत्रिय राज कुलोत्पन्न थे । वे धीर वीर-गंभीर राजकुमार थे । सर्वसुख-प्रदायी भौतिक सम्पति होते हुए आत्म कल्याण एवं विश्वकल्याण के लिए वे साधनापथ के पथिक बने । सारे वैभवों को तिलांजलि देकर इंद्रियसंयम धारण-कर तपस्या में लीन हुए । उन्होंने असह्य कष्ट भी सहिष्णुता से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहे । मन वचन–कार्य से अहिंसा का पालन किया । प्राणीमात्र के अंतर को कष्ट न पहुँचे इसका ध्यान रखा । उपसर्गों को स्वस्थ चित्त से सहन किया । शरीर का मोह त्यागकर आत्मा का प्रकाश बढ़ाया । ऐसे वीरव्रतधारी तीर्थंकरों द्वारा स्थापित या प्रणीत यह जैन धर्म अहिंसा की नींव पर खडा हुआ । हिंसा–क्रोध आदि आत्मा के विपरीत तत्वों पर क्षमा से विजय प्राप्त की । नाश करने की शक्ति होते हुए भी निर्माण को ही जीवन का मंत्र बनाया । सच भी है क्षमा कभी कायरों का साधन बन ही नहीं सकता । उसका प्रयोग क्षत्रिय या बहादुर ही कर सकता है । इसी लिए क्षमा वीरस्य भूषणम् कहा गया गया है । अहींसा जीवन का एक अंगभूत तत्व बन गया । दृश्य तो ठीक, मानसिक कुविचार हिंसा के अन्तर्गत माने गये । अहिंसा के इस जीवन ध्येय के कारण क्षमा एवं अहित नहीं करने का भाव रक्त के कण–कण में व्याप्त हो गया सहन शक्ति का विकास हुआ इस सिद्धांत को अपनाने वालों ने आजीविका के साधन ही ऐसे चुने जिनमें कम से कम हिंसा हो । प्रमादवश हिंसा न हो । अधिकांश ने व्यापार को महत्व दिया । धीरे–धीरे 'क्षमा वीरों का आभूषण' तो लुप्त होता गया वह डर का प्रतीक बनता गया । आत्मरक्षण में भी इतने अहिंसक बन गये कि प्रतिकारक भाव ही मर गया । दूसरे शब्दों में महान धर्म या सिंहधर्म वणिकों के हाथ पड गया । क्षात्रवृत्ति वणिक में बदल गई । पैसे की लालच बढ़ी जिससे पैसे के लिए सब कुछ सहन करने की आदत बन गई । यही कमजोरी हमारा लक्षण बन गया है । सच तो यह है कि हम जैन धर्म के अनुयायी हैं । हम हिंसा न करें पर आततायियों को भी सहन न करें ऐसी दृढ़ता अपनानी चाहिए ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसमें क्षमा के साथ दृढ़ता, अनाक्रमण के साथ अन्यायी, के प्रति प्रतिकार की शक्ति है वही जैन है। आज भी प्रश्नचिन्ह लगा हुआ हैं कि अपरिग्रह के अनुयायी क्या अपरिग्रही हैं ? क्या जैनत्व का निर्धार हमारे आचरण में है।

आवश्यक है कि हम भौतिक आनंद से बाहर निकल कर आत्मशक्ति के साथ विश्वशक्ति की ओर अग्रसर हों। तभी सच्चे जैन कहलाने के अधिकारी हैं।

जैन धर्म में भगवान ;

भारतवर्ष में अनेक सम्प्रदाय विविध वैमनस्य के कारण जन्मे। भगवान, उसके अस्तित्व आदि को लेकर वाद-विवाद चलते रहे। जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एवं उसकी स्पष्ट नीतियों के कारण द्वेष वश उसे सिर्फ इस आधार पर नास्तिक धर्म कह दिया गया कि वह वेदों को नहीं मानता। अवतार को स्वीकार नहीं करने के कारण उसे न जाने किन-किन द्वेषपूर्ण विशेषणों का शिकार बनना पड़ा। यद्यपि इन विधानों में एकांगी द्वेष ही अधिक था कोई तार्किक या प्रामाणिक सत्य नहीं था।

हिन्दु धर्म की मान्यता है कि ब्रह्मा संसार का सृष्टा है। और एक दिन सारा संसार प्रलय की गोद में समा जाता है। भगवान अवतार लेता है। वह लीलायें या चमत्कार करता है, और पश्चात अपने नियत धाम में चला जाता है। वह राग-द्वेष भाव को धारण कर सकता। जैन धर्म सर्व प्रथम तो सृष्टि का कर्ता किसी व्यक्ति विशेषको नहीं मानता साथ ही अवतारवाद का स्वीकार नहीं करता। जैनधर्म में प्राणी मात्र समान है। संसार का प्रत्येक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राणी सम्यकत्व धारण करके तपस्या के स्वसाधन द्वारा दुष्ट कर्मो का नाश या क्षय करके मुक्त आत्मा बन सकता है ।

जैन तीर्थकरों की पूजा करते हैं । देव-शास्त्र-गुरू की आराधना भक्ति करते हैं । इस दृष्टि से उनका आस्तिक भाव स्पष्ट है । वे नास्तिक कैसे कहे जा सकते हैं ? नास्तिक वह है जो आत्मा को न मानें । कुकर्मों के प्रति ही आकृष्ट रहे । भौतिक भोगों को ही स्वयं माने । जिसमें दया क्षमा, सहिष्णुता आदि गुण न हों ऐसी बातों का समर्थन जैनधर्म में कहीं नहीं है । फिर वह नास्तिक कैसे हो गया ? किसी द्वारा कहे गये भगवान या पुस्तक को न मानना यह नास्तिकता की कसौटी कैसे हो जाएगी ? यह तो वैसे ही हुआ कि मेरे पिता को जो पिता नहीं मानेगा वही मेरा दुश्मन ।

संसार की रचना के विषय में जैनधर्म संपूर्ण स्पष्ट है । जीव अनादिकाल से पुदगल का सम्पर्क प्राप्त करके इस संसार की रचना करता है । सात (नव) तत्वों के आधार पर इस संसार का चक्र निरन्तर चलता रहता है । नित नवीन कर्म बाँधते रहते हैं-पुराने कर्मों की तपस्या आदि द्वारा, क्षय, उपशम या क्षयोपशत होता रहता है । सत्-ज्ञान दृष्टि के उत्पन्न होते ही नये कर्मों का आना (आस्रव) बन्द होने लगता है । वे रुक जाते हैं । (संवर होता है) तपस्या की अग्नि में वे नष्ट होने लगते हैं । उनकी निर्जरा होती है । जब आत्मा संपूर्ण निर्मल-राग द्वेष आदि से मुक्त हो जाता है । मात्र ज्ञान या केवल ज्ञान उसे प्राप्त होता है । ऐसे आत्मा संसार के आवा-गमन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । यद्यपि इस मोक्ष की कल्पना या संभावना की चार्वाक को छोडकर सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार की है । उसके प्रयत्नों को महत्व दिया है । इस प्रकार मोक्ष प्राप्त जीव स्वयं भगवान बन जाता है । जैनधर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में इस प्रकार हर व्यक्ति को स्वयं भगवान बनने की क्षमता प्राप्ति का विधान है । संसार रचना का क्रम भी निरंतर चलता रहता है । उत्पाद–व्यय एवं ध्रोव्य के सिद्धांत पर वह अनवरत रुप से बनता और क्षय होता रहता है । इस दृष्टि से उसका कभी पूर्ण–नाश नहीं हो सकता । नवीन का जन्म पुराने का क्षय एक स्वाभाविक प्रक्रिया ही बन गये हैं ।

इस स्वाभाविक प्रक्रिया के कारण किसी व्यक्ति विशेषको कर्ता का संहारक मानना आवश्यक नहीं । संसार स्वयं निर्मित–क्षायिक रूप है । वह परिवर्तनशील है ।

जैनधर्म में भगवान की नहीं पर तीर्थंकर की महत्ता है । ऐसे भव्य जीव जिन्होंने स्वयं आत्मसाक्षात्कार किया । जो संपूर्ण निर्भय साधक है । चराचर के प्रति जिनमें करुणा–क्षमा एवं सहिष्णुता है । जो स्वयं की आत्मा को उर्ध्वगति की ओर मोड़तें हैं । जो जितेन्द्रीय हैं । ये संसार के उन लोगों को जो अज्ञान एवं अंधकार में भटक रहे हैं । उन्हें सत–धर्म का मार्ग बताते हैं । जो विविध स्थानों में तीर्थ अर्थात धर्म सभा का आथोजन कर लोगों को सत्–मार्ग प्रशस्त करते हैं तीर्थंकर होते हैं । जिनकी आत्म–शक्ति या ध्वनि इतनी जागृत है कि जिन्हें मात्र ज्ञान प्राप्त है । तीर्थंकर का अर्थ ही है जो खुद तरे औरों को तारें । जो मति–श्रुति–अवधि मनःपर्याय एवं केवल ज्ञानी हैं । जो रत्नमय मार्ग के पथिक एवं मार्ग दर्शक हैं । जो संसार पार उतरने वाले आगम के कर्ता हैं । इन्ही द्वारा प्रणीत मार्ग वही जैनधर्म है । ऐसे उपकारी होने से हम तीर्थंकरों की पूजा करते हैं । यहां भी पूजने के भाव में कहीं संसारिक मार्गों की प्राप्ति की एषणा नहीं हैं–अपितु यही भावना होती है कि हे प्रभू जो गुण आपको प्राप्त हैं वैसे ही गुणों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की प्राप्ति के योग्य मैं बनूं । मेरा भी कर्म क्षय हो । मैं भी मोक्ष मार्गी बनूं ।

जैनधर्म ही ऐसा धर्म है जो प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता निहारता है । जहां व्यक्ति ही नहीं गुणों की महत्ता का स्वीकार है । ऐसे वैज्ञानिक निष्पक्ष एवं गुणों की एवं गुणी-जनों की पूजा करनेवाला धर्म नास्तिक कैसे कहा गया यह भी आश्चर्य की बात है ।

जैनधर्म की विशिष्टता

भारतवर्ष में संस्कृति के प्रारंभ से ही वैदिक एवं श्रमण संस्कृति का समान रुप से उदय और विकास हुआ है । पार्श्वनाथ तक इन दोनों धाराओं का परिचय इन्ही नामों से मिलता रहा । हिंदू और जैन शब्द पार्श्वनाथ के पश्चात ही अस्तित्व में आये लगते हैं । इससे पूर्व इन शब्दों का प्रयोग धर्म के लिए प्रयुक्त नहीं मिलता है । भ. महावीर के समय में स्पष्ट और प्रचलित रुपमें इन शब्दों का प्रयोग होने लगा था । जैन और हिन्दू शब्द मूल रुपसे किस संस्कृति के द्योतक हैं इसे समझना होगा । कहां दोनों की भेद रेखा खिंची है उसे जानना होगा ।

सामान्यतः दोनो मतों के अनुयायी द्वेषवश या अज्ञानवश एक दूसरे के विषय में विविध अतार्किक विधान करते रहते हैं । हिन्दू लोग जैनधर्म को नास्तिक या सांख्य दर्शन का धर्म कहते हैं तो जैन लोग हिन्दूधर्म को लीला के नाम पर सराग देवों का हिंसात्मक यज्ञ कराने वाला धर्म कहते हैं । वास्तव में इन विधानों में दोनों की अल्पमति दर्शित है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज जैन की पहिचान कुछ क्रियाकांड बन गये हैं। इस परिचय के साथ अपनी विशिष्टता बताते हुए कहते हैं कि हम अहिंसक हैं। रात्रि-भोजन नहीं करते। आदि...आदि। पर यह क्रिया कोई जैनधर्मियों की बपौती नहीं। हिंदू-पुराण के शिवपुराण एवं मार्कन्डेयपुराण में स्पष्ट उल्लेख है कि रात्रिभोजन मांस भक्षण के समान है एवं रात्रि में जल-पीना रक्त पीने की तरह है। फिर, कंदमूल के दोष तो विज्ञान ने भी सिद्ध किए हैं। आज अनेक जैन कंदमूल नहीं खाते। ये बात अलग है कि हिंदुओंने शिव और मार्कन्डेपुराण के कथन पर अमल नहीं किया।

इसी प्रकार यदि जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने कैलाश पर्वत पर तपस्या की थी तो शिव की निवास भूमि ही कैलाश है। ऋषभ और शिव दोनों के चिन्ह एवं वाहन नान्दी हैं। यदि ऋषभ दिगंबर थे तो शिव का दूसरा नाम ही दिगंबर है। इसी प्रकार एक दूसरे से विशेष हैं ऐसी दलीलबाजी, तार्किकयुद्ध वर्षों से चलता रहा है। इसके उद्देश्य में एक दूसरे को नीचा दिखाने की हीन भावना प्रेरित है।

पर, जो वास्तविक एवं स्पष्ट विभाजन देखा है वह इन क्रिया कांडों पर आधारित नहीं है। पर दर्शन के सिद्धांत पर आधारित है। मूलभेद यह है कि हिंदू धर्म में सृष्टि की रचना एवं प्रलय निश्चित है एवं भगवान जन्म लेकर लीलास्वरुप संसार के मार्ग-दर्शक बनते हैं। लीला पूर्ण कर स्वधाम लौट जाते हैं। ब्रह्मा-विष्णु और शिव के सर्जन, पालन और संहार के कार्य निश्चित हैं। उन्हें संसार को सुधारने के लिए (परित्राणाय साधुनां-विनाशाय च दुष्कृतं) इन्हें साम-दाम दंड और भेद की पूरी छूट है। यहीं जैन धर्म अलग और अपनी स्वतंत्र बात कहता है। जैनधर्म में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान जन्म नहीं लेते, व प्रत्येक जीव स्वयं अपने कर्मों का क्षय करके भगवान बन सकने को क्षमतावान होता है। वहां तीर्थंकर का संभवित जीव भी अभिमान करे तो अनंत योनियों में भटकेगा किसी को कोई छूट नहीं। पापी से पापी जीव भी सच्चे मन से साधना में लीन हो जाये तो कर्मबंधनों से मुक्त होकर परमपद की प्राप्ति कर सकता है। दूसरे जैन धर्म में संसार का सर्जक, पालन या विनाशक कोई विशेष पुरुष नहीं होता। यहां प्रत्येक क्षण जीव कर्मबंध एवं क्षय करता कहता है। संसार इसी क्रममें नित्यजन्म एवं क्षय प्राप्त करता है यहां तीर्थंकर आदि न लीला करते है न अन्य का कोई दुख नाश करते हैं वे तो स्व के कर्मो की निर्जरा करते हैं मात्र पथदर्शक बनते हैं चलना तो जीव को ही है।

इस प्रकार शुन्य से मोक्ष तक की यात्रा की वैज्ञानिक पद्धति एवं स्वयं उसका प्रयोग करने की बात इस धर्म की विशिष्टता है। यही तत्व है जो दोनों के बीच स्पष्ट पृथक्तत्त्व प्रस्तुत करते हैं। अहिंसा का बाह्य एवं आन्तरिक रुप से यानी द्रव्य और भाव से अहिंसा का पालन करना इसका मूल सिद्धांत या नीव है—जबकि हिन्दू धर्माचार्यों ने यज्ञ आदि में उसकी छूट देकर उसकी मूल भावनाओं को विकृत किया है। हिंसा से बचने के लिए इसीलिए जैन धर्म के क्रियाकांड भी पुर्ण अहिंसक रहे। जीवन में आहार-व्यवहार में भी उसकी प्रधानता होने से रात्रि भोजन आदि का कठोरता से निषेध कर उसे अधर्म माना।

जैन धर्म की प्राचीनता

जैन धर्म की प्राचीनता या उसकी ऐतिहासिकता को लेकर अनेक भ्रांतियाँ प्रचलित हैं। यद्यपि जैनेतर विद्वान, पंडित और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रचारक इसकी प्राचीनता को जानते-समझते हैं। उसका परोक्ष रूप से स्वीकार भी करते हैं। पर तु, किन्ही कारणों से उसके कथन स्पष्ट रुप से स्वीकार नहीं करते या फिर उसमें कतराते हैं। वे जैनधर्म को भी हिन्दू धर्म की ही शाखा मानकर अपनी मान्यताओं की इति श्री कर देते हैं। वें इस धर्म का प्रारंभ महावीर से मान कर उसकी प्राचीनता को ही झुठला देने का प्रयास करते हैं। उनके समक्ष स्वयं वेदों और भागवत के उन्ही के शास्त्रों के उदाहरण होते हुए भी क्यों अस्वीकार करतें हैं यह समझ में नहीं आता। किसी जैन द्वारा इसकी प्राचीनता यदि प्रमाणित की जाती है तो ये लोग इसे जैनो की आत्मश्लाघा कहकर नकार देते हैं। इतना ही नहीं एक ऐसा भी युग आया जब जैन धर्म के विस्तरण को देखकर तेजोद्वेष के कारण इन्होंने इस धर्म को हिन्दू धर्म की प्रतिक्रिया के रुप में जन्मा नास्तिक धर्म कहकर उस पर प्रहार किए। उसकी सत्यता पर वज्रपात किया वास्तव में देखा जाये तो इन लोगों ने इस प्रकार जैन धर्म के साथ हिन्दू धर्म की कुसेवा की है। अनन्त युगों से एक साथ प्रचलित और पल्लवित इन संस्कृतियों में जो पारस्परिक आदान-प्रदान की भावना थी उस पर कुठाराघात किया। सस्ती लोकप्रियता में मोहांध होकर भारतीय ऐतिहासिक संस्कृति को विकृत ही किया।

इन कथित धर्मनेताओं ने जैन धर्म को वेद विरोधी, नास्तिक आदि तक ही अपने आपको सीमित नहीं रखा। आवेश में आकर यहां तक विषवमन किया और उपदेश दिया 'पर्वतकाय गजराज के पांव के नीचे कुचल कर मर जाना श्रेयस्कर है पर जिनमंदिर में पांव नहीं रखना"। ऐसा वैमनस्यपूर्ण कथन वे अनेक शास्त्रों का आधार देकर सिद्ध करना चाहते हैं। यद्यपि किसी शास्त्र में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता ऐसी कटुआलोचना वेद-पुराण में कहीं नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस विधान पर गहरी दृष्टि से विचार करने पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विधान मूलतः यों होगा कि हाथी के पांव के नीचे कुचलकर मर जाना श्रेयस्कर है पर जनम'दिर में पांव नहीं रखना । भावार्थ यह था कि जनम'दिर अर्थात वेश्यालय ।

मूल विधानकर्ता का बड़ा ही शुभ उद्देश्य था कि समाज में व्यापक अनैतिकता, व्यभिचार वेश्यागमन आदि दूषण दूर कैसे हों। उन्हें दूर करने के लिए धर्म के माध्यम से कैसे समझाया जाये ? इसी लिए उन्होंने ऐसा उपदेश किया । पर, द्वेष से भरे जैन धर्म के प्रति-विष-वमन करने वालोंने बडी चालाकी से संपादन में जन का जिन' कर दिया और दो संस्कृतियों में एक भयानक विग्रह उत्पन्न किया । विरोध की खाई खोद डाली । कहां इस वाक्य के रुप में पतितोन्मुख समाज को ऊपर उठाना था और कहां दो संस्कृतियों को लड़ा दिया । यह है बुद्धि का दुरुपयोगी चमत्कार ! जब कि ऐतिहासिक तथ्यो को विकृत करने की कुचेष्टा की जा रही हो उस समय विद्वानों का यह पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वे निरपेक्ष भाव से सत्य अर्थघटन करना अपना कर्तव्य ही नहीं धर्म समझे । उनका ऐसा कार्य ऐक्य की दृष्टि से सेतुका कार्य करेगा । अरे ! गीता का महावाक्य—"स्वधर्मे निधनः श्रेयः परधर्मः भयावहः" वाक्य की भी विकृत व्याख्या करके यह कहा कि स्वधर्म में मरना श्रेयकर है पर, अन्य धर्म से भयभीत रहें या उसमें न जाये बात सही है यहां धर्म शब्द पंथ के अर्थ में नहीं था । उसका भावार्थ था अपने कर्तव्य पर मरमिटना ही श्रेयस्कर है । हम अन्य के कार्यों में हस्तक्षेप न करें अन्यथा संघर्ष होगा । बात थी अपने कार्य में दत्तचित्त होना और दूसरों के कार्य में दखल न देना बात थी प्रेम बढ़ाने की । पर धर्म शब्द का संकुचित अर्थ करके उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी सम्प्रदायों के लड़ाने का साधन बना लिया। इसका दुष्परिणाम यह आया कि एक दूसरे के धर्म के उत्तम सिद्धांत जानने–समझने के द्वार ही बंद होने लगे। हम बंद दरवाजों में समाते गये। अंधकार में खोते गये। सत्य के प्रकाश से वंचित होते गये।

जहां तक जैनधर्म की प्राचीनता का प्रश्न है तो यह निर्विवाद सत्य है कि उसकी परंपरा वैदिक संस्कृति जितनी ही या उस से भी प्राचीन है। अनेक जैन–जैनेतर, देशी और विदेशी विद्वानों ने प्राचीनग्रंथो, शिलालेखों एवं उपलब्ध सामग्री का अध्ययन और अनुशीलन करके इस प्राचीनता के तथ्य का स्वीकार किया है।

'पाणिनीकालीन भारतवर्ष' नामक ग्रंथ में प्रसिद्ध इतिहास एवं प्राचीन संस्कृति के बहुश्रुत विद्वान डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल अथर्व वेद के दृष्टांत प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं–'भिन्न–भिन्न धर्मों में श्रद्धा रखने वाले अनेक प्रकार के लोगों को धरती अपनी गोद में स्थान देती है" यह कथन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि वेद–कालीन भारत में विभिन्न धर्म के पालक, बहुभाषी एवं रहन-सहन रीतिरिवाज से भिन्न–भिन्न प्रकार के लोग इस देश में निवास करते थे। उनमें पारस्परिक सहयोग एवं मेल मिलाप था। उस समय वैदिक धर्म के उपरांत भी धर्म प्रचलित थे यह निर्विवाद तथ्य है। इस 'अन्य धर्म' के संबंध में अन्तः एवं बाह्य साक्ष्य से यही सिद्ध हुआ है कि उस समय वैदिक धर्म के उपरांत श्रमण धर्म ही प्रचलित था।

'जैनिजम इन बिहार' के विद्वान लेखक श्री. सी. रायचौधरी ने अनेक ग्रंथ, शिलालेख एवं संशोधन के परिणाम स्वरुप यह स्वीकार किया है कि ऋषभदेव पौराणिक पुरुष थे। महापुराण एवं आदि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुराण में ऐसा उल्लेख स्पष्ट है । उसमें उल्लेख है कि कल्पवृक्ष के अदृश्य होने पर लोग आकुल-व्याकुल हो गये नाभिराय ने उन्हें अपने पुत्र साधु ऋषभ के पास भेजा । उस समय ऋषभ ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा कि तुम सब संसार के कर्म करते हुए अपने जीवन को दिव्यता प्रदान करो । साथ ही उन्हें खेती करने का तरीका बताया । विविध वनस्पतियों का परिचय-उपयोग बताया । ऐसा ही उल्लेख स्वयंभूस्तोत्र में भी है ।

आदियुग से भारतीय चिंतन धारा में दो विविध विचार शृंखलायें विकसित हुई । एक परंपरावादी और दूसरी पुरुषार्थवादी । प्रथम दृष्टिकोण में ब्रह्म एवं प्रारब्ध आदिका प्राधान्य रहा जबकि दूसरा दृष्टिकोण विकासशील या श्रमणसंस्कृति का रहा । इसमें आचरण एवं कर्म का प्राधान्य रहा । इन दृष्टि भिन्नता के उपरांत भी दोनों विचार श्रेणियां अन्योन्य की पूरक ही रहीं कभी विरोधी नहीं बनी । प्रथम वैदिक संस्कृति का उद्गम पंजाब एवं पश्चिमी उत्तरप्रदेश रहा एवं श्रमण संस्कृति का उद्गम आसाम, बंगाल बिहार मध्यप्रदेश एवं राजस्थान रहा । श्रीमद्भागवत में भी जैनधर्म के आदि प्रवर्तक भ. ऋषभदेव के जीवन का विस्तार से वर्णन है । भागवत में बडे ही स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है कि जिसके शुभ नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ वें भरत ऋषभ के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ थे ।

"येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः गुण-वातीत यनेंद वर्ष भारतनिति यपदिशन्ति ।"

श्रीमद् भागवत के ११ वें सर्ग के द्वितीय अध्याय के १७ वें श्लोक के अनुसार भरत परम भागवत थे । परमभागवत, उनका धर्म परायण होने का निर्देश करता है यह भी स्वीकार्य हुआ है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भागवत काल तक भरत का अस्तित्व स्थापित हो चुका था। एवं सर्वस्वीकृत भी बन गया। डॉ. भगतशरण उपाध्याय उसका उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि ऋषभ और भरत दोनों के वंश और कुल का संबंध मनु अथवा स्वयंभू पुरुष से था : वे जो वंशावलि प्रस्तुत करते हैं तदनुसार मनु का पुत्र प्रियव्रत, प्रियव्रत का पुत्र नाभि, नाभिका ऋषभ और ऋषभ के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ वही भरत थे। इन्हीं नाभिराय का एक नाम अजनाभ भी था। उसी के नाम पर कालांतर में इस देश का नाम अजनाभ पड़ा। इस अजनाभ का नाम उसके पौत्र भरत के नाम के साथे जुडकर भरतखंड बना यद्यपि इस पर सभी विद्वान एक मत नहीं। कई दुष्यंत के पुत्र भरत के नाम से भारतखंड को स्वीकार करते हैं। अनेक विद्वान इसको अधिक पुष्ट मत नहीं मानते। वें दुष्यंत शकुंतला के पुत्र भरत के साथ भरत खंड का संबंध होना अस्वीकार करते हुए वायुपुराण के आधार पर ऋषभ पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष या भरत खंड की पुष्टि करते हैं।

सिंधुनदी से प्राप्त योगमूर्ति एवं ऋगवेद की अनेक ऋचायें जैनधर्म की प्रागैतिहासिकता एवं प्राग्वैदिकता बहिर्साक्ष्य के रूप में पुष्ट करती हैं। ऋगवेद में ऋषभदेव एवं अरिष्टनेमि का उल्लेख महान एवं साधु प्रकृति के महापुरुष के रूप में हुआ है। भागवत एवं विष्णुपुराण में भी ऋषभदेव की कथा का वर्णन है।

जैनधर्म, बौद्धधर्म से प्राचीनतर है इस सत्य का शायद ही कोई अस्वीकार करे। यह वैदिक धर्म जितना ही प्राचीन है। स्व. राष्ट्रकवि दिनकरजीने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "संस्कृति के चार अध्याय" में इस तथ्य का स्वीकार किया है। भारतवर्ष का नामकरण ऋषभ पुत्र भरत के नाम से ही वे मान्य करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतरत्न स्व. लोकमान्य तिलक ने भी जैनधर्म को अनादि धर्म मानकर पौराणिक सत्य का निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। पुराण में रूषभ की सर्वोच्चता प्रतिपादित की गई है।

नागरी प्रचारणी सभा का शीर्ष प्रकाशित सूरसागर में भी रूषभदेव की प्रभुता का उल्लेख इन शब्दों में हुआ है—

रिषभदेव जब वन को गये

नवसुता नवौ खण्डनृप भये

भरत सेा भरतखंण्यकारंड

करे सदा ही धर्म एक न्याय।

मथुरा से उत्खनन के द्वारा प्राप्त भग्नावशेषों में भी रूषभदेव की खडगासन मूर्ति एवं उस पर उत्कीर्ण बैल की आकृति भी जैन धर्म की प्राचीनता की द्योतक है।

अपने इतिहासपरक शोध—निबंध "हिमालय में संस्कृति" में श्री विश्वंभर सहाय प्रेमी लिखते हैं कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में प्रारंभ से ही जैनों का सहयोग प्रदान रहा है। मोहनजोदडो से प्राप्त जैनमूर्तियाँ उनकी विकसित शिल्पकला के नमूने हैं।

श्री व. सुन्दरलाल ने हजरत ईसा तथा ईसाई धर्म नामक ग्रंथ में लिखा है कि प्राचीन युग का अध्ययन करने से पता चलता है कि पश्चिमी एशिया इजिप्त इरान ग्रीस एवं इथोपिया के जंगलों और पर्वतों पर उस समय हजारों जैन संत—महात्मा निवास करते थे। ये संत—महात्मा वहाँ कठोर तपस्यामय जीवन बिताते थे। एवं त्याग और ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिन्दी विश्वकोष में उल्लेख है कि वेजके हिमन मठ में से एक रशियन पर्यटक ने पालि भाषा में लिखित एक ग्रंथ खोजा था। उस ग्रंथ में यह उल्लेख है कि ईसाने भारत तथा अन्य देशों में अज्ञातवास किया था। उस समय जैन साधुओं से उनका साक्षात्कार हुआ था।

वीर सावरकर इस धर्म की प्राचीनता का स्वीकार करते हुए कहते हैं कि भारत ही जैनधर्म की जन्मभूमि है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वैदिक धर्म व श्रमण धर्म एक ही आर्य परंपरा के साथ आबद्ध थे।

तैतरीय आरण्यक, वाल्मीकि रामायण, श्रीमद्भागवत, वैराग्य संहिता, महाभारत, जैसे महानग्रंथों में जो उल्लेख हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि जैनधर्म का उस युग में पर्याप्त विकास हो चुका था। नग्न जैन मुनि उस समय विहार करते थे और राजा जनक के यहां आहार के लिए जाते थे। स्कंधपुराण में जैनमुनियों को नग्न एवं मयूरपिच्छधारी कहा गया है। महाभारत में उनका अभक्ष्य त्यागी के रुप में उल्लेख है।

इस प्रकार जैन-जैनेतर ग्रंथो में वर्णित वर्णनों से जैनधर्म की पौराणिकता एवं ऐतिहासिकता पर प्रकाश डाला गया है जो द्वेष-बुद्धिवालों को सत्य को परखने में सहायक सिद्ध होंगे।

इन कथनों से यह कहा जा सकता है कि वाल्मीकि अर्थात राम के युग में जैनधर्म प्रचलित हो गया था। नग्न जैन साधू निर्विघ्न विहार करते थे। जनक जैसे राजाओं के यहां वे समादरणीय थे। त्याग साधना, उपासना, शुद्ध सात्विक आहार-विहार के कारण समाज में उनका आदरणीय उच्च स्थान था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भक्तिकालीन सूफी कवि मलिकमोहम्मद जायसीने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य पदमावत में सिंहलद्वीप का वर्णन करते समय दिगंबर जैन मुनियों का उल्लेख किया है ।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री इ. आई. थोमस अपनी पुस्तक 'धी लाइफ ओफ धी बुद्ध में लिखते हैं कि सिकंदर ने जैन सूफी साधु ओं से मुलाकात की थी । वह उनके असीम धैर्य एवं सहनशीलता से प्रभावित हुआ था ।

कृषि युग के साथ ही भ. ऋषभ ने लिपि की खोज की थी । उनकी पुत्री ब्राह्मी के नाम पर ब्राह्मी लिपि का नाम करण हुआ था उसी से स्वर, व्यंजन, गणित, पदविद्या, छंदशास्त्र आदि का श्री गणेश माना गया है । इस प्रकार के उल्लेख पुरदेव-चंपू, आदि-नाथ चरित्र आदि ग्रंथों में हैं ।

नाटयशास्त्रकार भरतमुनि भी ग्रंथ के प्रारंभ में नाटक की जननी ब्राह्मी को प्रणाम करते हैं ।

श्री स्व. दिनकर जी भी स्वीकार करते हैं कि ऋषभदेव ने १८ प्रकार की लिपियों का आविष्कार किया था ।

इन सारे साक्ष्यों के आधार पर जैनधर्म या श्रमण संस्कृति की प्राचीनता एवं महत्ता का परिचय मिलता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म में प्राण अहिंसा

प्रत्येक धर्म का कोई न कोई विशिष्ट सिद्धांत होता है उसके आधार पर उस धर्म की पहिचान होती है। उदाहरण के तौर पर क्रिश्चियन धर्म का मुख्य सिद्धांत प्रेम है। इस्लाम धर्म समानता और एकेश्वरवाद से जाना जाता है। इसी प्रकार जैनधर्म में अहिंसा का प्राधान्य है। अहिंसा ही उसकी मूल पहिचान बन गई है। इसीलिए इसे अहिंसामयी धर्म कहा गया है। सच भी है—अहिंसा का जितने सूक्ष्मातितूक्ष्म वर्णन एवं जीवन में उपयोग करने की बात जैनाचार्यों ने कही उतनी अन्य धर्मों में नहीं। इसका मतलब यह नहीं कि अन्य धर्मों ने अहिंसा का स्वीकार नहीं किया। पर उसे ही सर्वस्व नहीं माना। जब कि अन्य सारे उत्तम तत्वों में भी अहिंसा को प्राधान्य इस धर्म में दिया गया है।

इस तथ्य की पूर्वभूमिका पर थोड़ासा विचार करें तो पता चलता है कि श्रमण संस्कृति स्वयं में स्पष्ट रही है। इसने प्राणी मात्र ही नहीं प्रत्येक प्रकार के पदार्थों में जीवों की संकल्पना की है। स्वयं को केन्द्र में रखकर यह अनुभव किया कि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में जो स्थिति हमारी होती है। जो सुख या दुख मुझे होते हैं वैसे ही समस्त प्राणियों को होते होंगे। इसीलिए उन्होंने कहा कि यदि किसी अन्य से तुम्हें शारीरिक या मानसिक कष्ट पहुँचता है तो वैसा ही दूसरों को पहुँचेगा। एक वस्तु जो एक प्राणी के लिए सत्य है वह सभी प्राणियों के लिए वैसी ही होगी। इस दृष्टि से जैनधर्म का अहिंसा का सिद्धांत प्राणीमात्र के लिए एक सा लागू होता है। जबकि अन्य धर्मों में पशुबलि या नरबलि को धर्म का साधन मानकर हिंसा का भी स्वीकार किया। इस हिंसा में पुण्य की कल्पना की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-मनीषियों ने ही पहली बार पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाशकायी जीवों के अस्तित्व का स्वीकार किया। साथ ही यह तथ्य भी समझा कि प्रत्येक दुर्गुण या दुर्व्यवस्था में मूल कारण हिंसात्मक क्रिया या भाव ही होते हैं।

भ. महावीर के समय हिंसा का वातावरण सर्जित हो चुका था। धर्म और पुण्य के नाम पर हिंसा की ज्वालायें धधकने लगी थीं लोग भयाक्रांत थे। अंधश्रद्धा या जादूगरों के छल-प्रपंचो में फंसने पर हिंसात्मक विधियों में ही खो गये थे। ऐसे समय भ. महावीर ने धार्मिक और सामाजिक क्रांति का "हिंसा धर्म नहीं पाप है" की घोषणा की। लोगों को भ्रम संशय एवं अंधविश्वासों में से बाहर निकाला। मनुष्य-मनुष्य के बीच धर्म, जाति एवं सामाजिक ऊंच नीच के भेदों के कारण जो वैमनस्य एवं हिंसात्मक भाव थे उन्हे ललकारा। लोगों को समानता, स्वतन्त्रता, समन्वय सहिष्णुता का अमृत मन्त्र दिया और सब के मूलों में अहिंसा की प्रस्थापना की। उस युग में अहिंसा की ही सर्वाधिक आवश्यकता थी इसीलिए अहिंसा का मूलतथ्य या नींव के रुप में स्वीकृत किया। वैचारिक हिंसा को भी दूर करने के लिए स्याद्वाद का अमूल्य दर्शन प्रदान किया। लोगों को ज्योंही यह मंत्र मिला- "अहिंसा परमो धर्मः" और उसके प्रभाव को देखा-त्योंही मानो उनके जीवन में मानवता का नवीन सूर्य ऊगा। वे भ्रमजाल से सत्य की ओर आकृष्ट हुए। अहिंसा की महत्ता की पूर्व पीठिका को जानने के पश्चात उसके दर्शन को भी संक्षिप्त में समझेंगे।

मनुष्य का मन सारी अच्छाइयों और बुराइयों का उद्गमस्थान है। मूलतः क्रोध-मान-माया और लोभ जो चार कषाय हैं वे व्यक्ति को सदैव कुवृत्तियों की ओर प्रेरित करते हैं। इन्ही चारो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की कुप्रेरणा से हिंसा की वृत्ति और प्रकृति जन्मती है। मनुष्य के अंदर कुछ चक्र और ग्रंथियां हैं। उनके स्थान योग और शरीर विज्ञान से भी सिद्ध हो चुके हैं। इन ग्रंथियों के स्राव से एवं चक्रस्थानों के ध्यान से वृत्तियों को प्रेरणा मिलती है। मस्तिष्क वैसा ही आचरण करने की आज्ञा देता है। उदाहरण के लिए जब व्यक्ति अपने मनोनुकूल परिस्थिति या कार्य नहीं कर पाता या होते नहीं देखता तो उसकी ग्रंथीयों में तनाव आता है। समतोल रखने वाला स्राव असंतुलित रुप से प्रवाहित होने लगता है। व्यक्ति में उत्तेजना बढ़ती है। उसके संपूर्ण शरीर में तनाव आ जाता है उसकी मुखाकृति विकृत, बोलने की क्रिया में गड़बड़ी, आंखे लाल हो जाती हैं। शरीर कापनें लगता है और श्वास की रफ्तार अत्यधिक बढ़ जाती है। पहले आदमी खुद के मनोभावों की हिंसा करता है फिर विवेक खोकर दूसरों का अहित, वध, बंधन आदि करता है। क्रोध हिंसा की पूर्व भूमिका ही है। क्रोधी व्यक्ति सदैव हिंसक होगा। वह सदैव तनाव के घात में लगा रहेगा क्रोध का दौर खत्म होते ही जब वह जरासा विचार करता है तो वह स्वयं अनुभव करता है कि उसने कितना बड़ा अनिष्ट किया। उसे दंडात्मक परिणाम भी भोगने पड़ते हैं। पर, पीछे पछताने से क्या? इसी प्रकार अभिमान, कपट एवं लोभ करने वाला निरंतर दूसरों को नीचा दिखाने का ही विचार करता रहता है। धन की प्राप्ती के लिए वह अनेक गलत रास्ते अपनाता है। इस प्रकार इन कषायों के पोषण के लिए उसे बहुविधि से हिंसात्मक रवैया अपनाना पड़ता है। हमारे समक्ष रोज ऐसी घटनायें घट रही हैं। अमुक व्यक्ति ने अति क्रोध में या तो आत्महत्या की या अन्य की हत्या कर डाली। धन के लिए बड़े-बड़े डाके, खून किए। ऐसा है कि सदैव चिंता रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म में मूलतः द्रव्य हिंसा और भावहिंसा ऐसे दो भेद किए गये हैं। इसे बाह्य स्थूल और मानसिक सूक्ष्म हिंसा भी कह सकते हैं। किसी भी प्राणी को दुर्भावना या स्वार्थ से प्रेरित होकर शारीरिक कष्ट पहुंचाना द्रव्य हिंसा हैं। इसके अन्तर्गत प्राणियों का शिकार करना आदि सम्मिलित है। और दूसरे प्रकार की हिंसा भावहिंसा है। इसके अंन्तर्गत किसी भी प्राणी का मन भी दुखाना हिंसा हैं। हमारे कृत कारित या अनुमोदनार्थ, मन, वचन कर्म से किसी भी व्यक्ति या प्राणी के मन को ठेस पहुंचे तो वहां भाव हिंसा का दोष लगता है। हाँ! इसमें भी द्वेष, स्वार्थ आदि का भाव हो तो अन्यथा एक पिता अपने बच्चे को सुधारने के लिए जो शब्द प्रयोग करता है उसमें भाव हित के हैं—द्वेष के नहीं। अतः वहां इस सूत्र का प्रयोग न करें। ये पंक्तियां इस तथ्य को बडी मार्मिकता से व्यक्त करती हैं—

" तुम खुद जिओ जीने दो जमाने में सभी को
अपने से कम न समझो दुनियाँ में किसीको ॥"

भ. महावीर का सूत्र था—'जिओ और जीने दो।' सच भी है। यदि हम जीना चाहते हैं तो हमें दूसरों को जीने का पूरा अधिकार और स्वतंत्रता देनी होगी।

वर्तमान युग में भौतिक साधनों की वृद्धि ने व्यक्ति को अधिक सुख-सुविधा मय जीवन जीने की सामग्री प्रदान की है। पर, व्यक्तिने वहां परिग्रह को अधिक स्थान देकर संग्रह करने की वृत्ति पनपाई। परिणाम स्वरुप संग्रह और अभाव बढ़ा। संघर्ष बढे हिंसा भी बढ़ी। इसलिए पुनः भ. महावीर के समतावाद का स्मरण करना होगा। सभी को सभी सुविधाये उपलब्ध हों तभी हिंसा को रोका जा सकेगा। तभी व्यक्ति और समाज में प्रेम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़ सकेगा। आज के भयभीत विश्व में युद्ध और हिंसा की विभिषिकाओं में जीने वाले विश्व को जैनधर्म की अहिंसा अपरिग्रही त्राण दिला सकते हैं। अहिंसा अमोघ शस्त्र है यह मात्र कथन की बात नहीं हैं, पर प्रयोगसिद्ध तथ्य है। महात्मागांधी इसी से इतनी बड़ी हिंसात्मक सत्ता को अहिंसा के शस्त्र से पराजित कर सके और पराजित भी दुश्मन नहीं परंतु दोस्त बनकर किये।

जीवन से हिंसा को दूर करने के लिए हमें मन को बांधना होगा। उसको बाह्य भटकाव से अन्तर्मुखी बनाना होगा। कृत्यों और प्रवृत्तियों पर संयम की लगाम लगानी होगी। इसके लिए हमे ध्यान द्वारा केन्द्रो और नाड़ीतंत्र पर नियंत्रण करना होगा। संतुलन स्थापित करना होगा। युवाचार्य महाप्रज्ञ की भाषा में प्रेक्षा ध्यान द्वारा कलुष रहित होना होगा। श्वास पर नियंत्रण करना होगा। मनोविज्ञान की भाषा में मन के भीतर उतरकर मूल में जो कुभाव हैं उसमें आमूल परिवर्तन करने होंगे।

अहिंसा का पालन अर्थात् निर्भयता में जीना, सत्य बोलना अपरिग्रह का स्वीकार होगा। अहिंसक की वाणी में सत्य होगा, आचरण में क्षमा होगी और जीवन में समता, सरलता, सहृदयता, करुणा होगी। फिर उसे इन्द्रियां विवश न करेंगी और बाह्यभय आसक्त नहीं करेंगे। ऐसा व्यक्ति साधक सुख अवस्था में पहुंचकर सारी कलुषता से मुक्त होकर केवल ज्ञान तक उर्ध्व गमन कर सकेगा। यह अहिंसा का ही प्रभाव होता है कि समवशरण में परस्पर जन्मजात दुश्मन जीव भी एकसाथ प्रेम से बैठते हैं।

अहिंसक व्यक्ति की भावातरंगे उत्तरोत्तर परिमार्जित हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में उसकी अशुभ लेश्यायें शुभ में परिवर्तित हो जाती हैं। उसका आभामंडल जगमगाने लगता है। व्यक्ति के लिये, समाज के उन्नयन और विश्वशांति के लिए अहिंसा ही एकमात्र उपाय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बारह व्रत

जैनधर्म में बारह व्रतों का महत्व है। इन बारह व्रतों का पालन अर्थात सम्पूर्ण जैनधर्म को जीवन में उतारने की क्रिया। बारहव्रत का धारी मनुष्य ही जैन कहलाने का अधिकारी बनता है। उसका जीवन अन्तर और बाह्य एक सा सरल-तरल होता है। मनुष्य को मनुष्यत्व के बोधक ये सिद्धांत व्यक्ति, व्यक्ति और समाज सभी को सम्पन्न बनाते हैं जैनधर्म में श्रावक और मुनि दोनों व्रतपालन करते हैं। यद्यपि गृहस्थ श्रावक और गृहत्यागी मुनि के लिए उसके पालन का परिमाण अलग-अलग है। तथापि पंचपाप जैसे अनिष्टों से बचने की आवश्यकता दोनों के लिए अनिवार्य है। यों कहना अधिक सरल होगा कि जीवन में से बुराईयों को दूर करना और नई बुराईयों को न आने देने का प्रयास ही व्रत है। व्रत ग्रहण किए जाते हैं-अर्थात उन नियमों का स्वीकार किया जाता है जिससे अन्य प्राणियों के प्रति क्रूर, उनके मनके दुखाने वाला व्यवहार न हो। इन व्रतों को तीन मुख्य विभागों में विभाजित किया गया है।

१. महाव्रत।
२. गुणव्रत।
३. शिक्षाव्रत।

पांच महाव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत हैं।

महाव्रत के अन्तर्गत अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, एवं परिग्रह परिमाण व्रतों का समावेश होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणव्रत के अन्तर्गत दिग्व्रत, अनर्थदंडव्रत एवं भोगोपभोग परिमाणव्रत का समावेश होता है ।

शिक्षाव्रत के अन्तर्गत देशावगाशिकव्रत, सामायिकव्रत, पौषधोपवासव्रत एवं अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रतों का समावेश किया गया है ।

महाव्रत :

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह को महाव्रत या मुख्य व्रत कहा गया है । जीवन में जिसने भी उपरोक्त व्रतों को धारण किया उनका जीवन निर्मल बन जाता है । वह राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है । उनका जीवन और कथन, कथनी और करनी में कहीं द्वैध नहीं होता उसके समस्त कार्य सच्चे होते हैं । संतोष रुपी धनका वह धनी होता है ।

अचार्यों नें महाव्रतों के पालनार्थ इसके भी साधू और श्रावकों के संबंध में दो विभाग किए हैं । एक महाव्रत दूसरा अणुव्रत । साधु के लिए इन नियमो का पूर्ण रुपेण पालन करना अनिवार्य है । दूसरे शब्दों में वही साधु है जो इसका पूर्णरुपेण मन-वचन-कर्म से किन्ही भी परिस्थितियों में पालन करता है । जबकि गृहस्थ को जीवनयापन और गृहस्थी चलाने के लिए अनेक प्रकार के आरंभ, और कार्य करने पड़ते हैं वह साधू की तरह पूर्णरुपेण इन व्रतों का पालन नहीं कर सकता । उसके लिए संभव नहीं । इसका मतलब उसे नियमों में से छूट देना नहीं है । जीवनयापन के लिए आवश्यक क्रियाओं को करते हुए भी वह ऐसे व्यापार को न करे जिसमें हिंसा का प्रश्रय लेना पडे । अनावश्यक मात्र धनोपार्जन के लिए झूठ न बोले । चुगली या झूठी गवाही न दे । चोरी न करे, चोरी का माल न ले । कम न तोले । एक पत्नीव्रत का धारक हो । भोग विलास को ही जीवन न बना ले । अतिशय परि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रही न बने । संग्रहखोरी करके अन्यों के अधिकारों पर कब्जा न जमाये । दहेज न ले, आदि नियमो का पालन करता हुआ जीवन यापन करे । क्रमशः अणुव्रतों से महाव्रतों की ओर जाने की भावना भायें । आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन चला कर सचमुच मानव को मानव बनने की प्रेरणा दी । इनके अपनाने से समाज में प्रेम सहिष्णुता स्वयं बढेगी ।

इससे हम इतना स्पष्ट समझ सकते हैं कि गृहस्थ एक देशी त्याग करे और मुनि सर्वदेशी त्याग करे । त्रस जीवों की विराधना से बचने के लिए रात्रि भोजन कंदमूल का त्याग एवं पंच उदंबर का त्याग हर गृहस्थ के लिए आवश्यक है । इसके लिए प्रत्येक गृहस्थ परिमाण व्रत का स्वीकार करे । ऐसी स्वीकृति से सम्यग्-दर्शन की स्वभाविक स्वीकृति हो जाती है । जब यह दर्शन उत्तरोत्तर चारित्र में परिवर्तन होने लगता है तब मोक्ष की ओर स्वतः प्रयाण मार्ग प्रशस्त होता है । संक्षिप्त में इन बारह व्रतों को समझे ।

अहिंसा : पिछले अध्याय में इसकी चर्चा की जा चुकी है ।

सत्याणुव्रत ; सत्य शब्द स्वयं सूर्यसा प्रकाशित है । उसकी व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं । हर युग में सत्य ईश्वर के रुप में शाश्वत और प्रतिष्ठित रहा है । जीवन को निर्मल और उन्नति के शिखर पर ले जाने की श्रेष्ठ कला इस सत्य में है ।

कषायभाव सहित अयथार्थ वचन कथन करना असत्य है अर्थात ऐसी वाणी बोलना जिससे किसी का अहित हो, अपवाद बढे या आघात लगे वह असत्य है । ऐसी वाणी से सत्याणुव्रत दूषित होता है । सत्य को श्रेष्ट तप माना गया है । हम जीवन व्यवहार में भी देखते हैं कि जो सत्यवक्ता है—उसका मन प्रफुल्लित रहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जबकि असत्यवक्ता एक असत्य को छिपाने के लिए असत्यों की परंपरा खड़ी करता है। सदैव भयभीत एवं चिंताकुर रहता है। वह निरंतर असत्य के कीचड़ में धसता जाता है। असत्य वक्ता अहंवादी कपटी होगा। स्वार्थ ही उसका सर्वस्व होगा। ऐसा आदमी जो स्वार्थ के लिए झूठ बोल कर पहाड से पाप को बांधता है। कुछ लोगों की ऐसी भ्रमणा या असत्य मान्यता है कि असत्य बोले बिना धंधा कैसे चलेगा? समृद्धि के लिए पैसा झूठ से ही कमाया जा सकता है...वगैरह...वगैरह। यद्यपि वर्तमान राजनीति से, अधिकारिओं में व्याप्त भ्रष्टाचार घूसा आदि के कारण व्यापारी वर्ग परेशान है। पर, उसका समाधान असत्य नहीं पर निर्भयता से सामना करना है। ऐसा देखा गया है कि सत्य बोलकर प्रमाणिकता से व्यापार करने वाला प्रारंभ में कुछ कम कमाने पाता है। पर, कालांतर में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। लोग उस पर विश्वास करते हैं। उसका व्यापार बढ़ता है। आय बढ़ती है। उसे मानसिक शांति मिलती है और समृद्धि भी।

असत्य में मिथ्या उपदेश का भी समावेश हो जाता है। अर्थात शास्त्रोक्तवचन से विरुद्ध बोलना; किसी की गुप्त बात प्रकट करना, किसी के विषय में गलत लेख लिखना, झूठी गवाही देना एवं किसी का रहस्य अन्य पर प्रकट करना आदि झूठ के ही अंग है। सत्य वक्ता को सर्व प्रथम क्रोध, लोभ एवं भय का त्याग करना होता है। वह किसी की हँसी ठट्ठा नहीं करता। उसके कृत से या कथन से किसी के हृदय को ठेस भी पहुँचे ऐसे वचन व कार्य से वह सर्वथा दूर रहता है।

सच तो यह है कि यदि व्यक्ति में सत्य का स्थान बढे तो समाज व देश उन्नति कर सकता है। ये अहिंसा की तरह ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अमोघ शस्त्र है । सरल जीवन जीने का सरलतम उपाय यदि कोई है तो वह सत्यमय जीवन बनाने की क्रिया है ।

अचौर्याणुव्रत :

कहा गया है कि एक मूल के साधन से सभी कुछ सध जाता है-उसी प्रकार यह भी कह सकते हैं कि मूल के दूषित होने से सभी कुछ दूषित हो जाता है । यों कहना यथार्थ होगा कि अहिंसा द्वारा जिसने क्षमा करुणा धारण की उसका सत्य प्रकाशित होता है । व्यक्ति सरल, निष्कपट, निर्भय एवं प्रसन्नचित बनता है । उसमें समता का जागरण होता है इन देवगुणों से उसमें जैसे संतोष का स्रोत प्रवाहित होने लगता है । इस संतोष के स्रोत को अधिक वेगवान एवं पल्लवित बनाने के लिए इस अचौर्याणुव्रत का, स्वीकार एवं विकास आवश्यक है ।

व्यक्ति में भौतिक सुखों की लालसा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है । वह वर्तमान साधनों से जब उसकी पूर्ति नहीं कर पाता तब वह अन्य अनपेक्षित मार्गों का आश्रय लेने लगता है । धन की वृद्धि के लिए वह रिश्वत लेता है, कम तौलता है, संग्रह करता है मिलावट एवं काला बाजार के कार्य करता है । दूसरे वे लोग हैं जो अभावों की पूर्ति के लिए छोटी-मोटी, चोरी जेब काटना आदि कर्म करते हैं । यही धीरे धीरे आदत बनती जाती है जो बड़े-बड़े डाके डलवाती है । चाहे आवश्यकता की पूर्ति के हेतु हों या धनवान बन कर ऐशो आराम करने की भावना से हों-ऐसे कृत्य चोरी के हैं । इस कार्य का मन में विचार आते ही मनोभाव कलुषित होने लगते हैं । मानसिक शांति का हरण हो जाता है । नैतिक पतन होने लगता है । हमारे मन में अन्य का अहित-भाव जागने से हिंसा की वृति जन्मती है । बस ! हिंसा का भाव जागृत होते ही सारी बुराइयाँ अंकुरित होने लगती हैं । झूठ का आश्रय ही चौर्य कर्म का सबसे बड़ा साथी बन जाता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म की यही तो विशेषता है कि वह संयम एवं समता पर जोर देकर कहता है कि संयम रखने से वासनायें या भोग विलास की लिप्सा नहीं जागेगी और समताभाव होने से आवश्यकता की पूर्ति का प्रश्न स्वयं हल हो जायेगा-परिणामतः न साधन सम्पन्न को गलत राहों पर चलना होगा और न गरीबों को पेटके लिए चौर्यवृत्ति का आश्रय लेना होगा।

जिस प्रकार हिंसा-अहिंसा का अतिसूक्ष्म वर्णन किया गया हैं उसी प्रकार इस चौर्यवृत्ति का भी सूक्ष्म वर्णन प्रस्तुत है। चोरी चाहे छोटी हो या बड़ी, हेय और त्याज्य मानी गई है। चोर सदैव दंडनीय रहा है। कितनी सरल भाषा में समग्र व्याख्या प्रस्तुत है-"कषाय भाव युक्त होकर किसी की वस्तु को उसके द्वारा दिए बगैर या आज्ञा बिना ले लेना चोरी है। किसी की रखी हुई या भूली हुई वस्तु को ग्रहण करना भी चोरी है।" मै समझता हूं कि इस व्याख्या में चोरी के सभी लक्षण समाविष्ट हो गये हैं। यहां मन-वचन कर्म से ही चोरी के त्याग का निर्देश है।

धर्म तभी महत्वपूर्ण बनता है जब वह व्यक्ति और समाज को सुधारने में सक्षम हो। समाज व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में सहायक हो। कम तौलना काला बाजार, कर चोरी आदि ऐसे तत्व हैं जो समाज को असंतुलित बनाते हैं। अतः चौर्यकर्म में गिने गये हैं। जो लोग यह मानते हैं कि ऐसा गलत मार्ग से ले आया हुआ धन दान करने से शुद्ध या उपयोगी बन जाता है वे लोग भ्रम और मिथ्यात्व में जीते हैं। मेरी दृष्टि से ऐसा कार्य धर्म कार्य को दूषित करता है। अन्य लोगों को प्रेरित करके समाज को भ्रष्ट व धर्म को कलंकित करता है। ऐसे पैसे के दान से पुण्य मिलने की आशा रखने वाला आंखो वाला अंधा ही है। किसी भी प्रकार की चोरी करने वाले की समाज और राष्ट्र में कोई मान-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मर्यादा नहीं होती। पर विडंबना है कि काले धंधे से धनवान कुबेर बने लोग आज समाज और देश के नेता बने हैं। पुज रहे हैं। यह बात अलग है कि लोग स्वार्थ या भय वश उनके गुण-गान गायें-पर मन से तो वे घृणा के पात्र ही रहते हैं।

चौर्यवृति का एकमात्र इलाज है संतोष वृति का उदय कहा भी है "जब आवे संतोष धन, सब धन धूलि समान।"

जैनधर्म तो इससे भी आगे कहता है कि चोरी करना ही नहीं, चोरी की प्रेरणा देना, चौर्यकर्म की शिक्षा देना, चोरी की वस्तु खरीदना, मूल्यवान वस्तु को कमभाव में झूठ बोलकर खरीदना ये सभी चोरी के ही कार्य हैं। पाप के कार्य हैं। जैन धर्म का अवलंबी, कपट, झूठ, हिंसा रहित होकर स्वउपार्जित धन के उपयोग से ही संतुष्ट रहकर अचौर्यव्रत में आरुढ होता है। किसी भी व्यापार प्रतिष्ठान या देश का पतन उसके बेईमान एवं भ्रष्ट चोर कर्मचारियों के कारण ही होता है। देश की वर्तमान गरीबी के मूल में भ्रष्टाचार और भाई-भतीजा वाद है। जब राजा ही चोर हो तब कहें भी तो किससे? चोरी को रोकने का मूलमंत्र है-आत्म संतोष, संयम और वृतियों में ऋजुता। हमें इन वासनामय वृत्तियों पर संयम रखने के लिए ध्यान आदि का प्रयोग करना होगा। मैत्री का भाव विकसित करना होगा। अपने साथ दूसरों की भूख मिटाने का प्रयास करना होगा। आवश्यकताओं को सीमित करना होगा। जो इस चौर्यवृति का जनक है-उसे बांधना होगा। हम गृहस्थ हैं। तो अणुव्रत अर्थात् गृहस्थ जीवन में अनावश्यक चोरी पर संयम रखकर बचना होगा।

ब्रह्मचर्याणुव्रत :

व्यक्ति का जब अहिंसा सत्य और स्व-मेहनत से उपार्जित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धन से जीवन बीतता है तब वह धर्म, साधना और मुक्ति पंथ का पथिक बनने लगता है। कहावत भी है-'जैसा खावे अन्न वैसा उपजे मन"। उसकी वृत्ति में निर्भयता, निष्कपटता, सत्यवक्तव्य आदि के गुण विकसित होते हैं। वासनाओं पर उसका संयम रहता है। परंतु, जब व्यक्ति भौतिकसुख, कामवासनाओं की पूर्ति के लिए भोग विलास की ओर दौड़ना प्रारंभ करता है तब उसकी वृत्तियों में तामसापन कामेच्छायें फूटती हैं। देह का सुख ही उसके लिए सर्वस्व बनने लगता है। संयम उससे कोसों दूर हो जाता है। विकार उसके चेहरे को घेर लेते हैं। शीलभावों की न्यूनता उसे पथ भ्रष्ट करती है साधना का तो प्रश्न ही नहीं रहता।

ब्रह्मचर्य शब्द को दो अर्थों में समझा जा सकता है। एक साधारण शब्द के बीच अर्थ-शीलव्रत का धारण करना। साधू के लिए संपूर्णव्रत का पालन एवं गृहस्थ के लिए स्वपत्नी में संतोष करते हुए अन्य सभी को माता-पुत्री या बहन की भावना से देखना। दूसरा अर्थ है-ब्रह्म में चर्या करना। अर्थात् ब्रह्म में रमण करना। सरल शब्दों में कहें तो आत्मा में स्थिर होना। जब साधक बाह्य कषाय आदि संसारिकता से मुक्त बनकर आत्मा की ओर उन्मुख होता है। बाह्य जगत से अंतर जगत में प्रवेश करता है। जब भौतिक सुखों को त्यागकर आत्मिक सुखों की ओर मुड़ता है तब वह ब्राह्य या आत्मा में स्थिर माना जाता है। वही ब्रह्मचारी है। ऐसा ब्रह्मचर्य महाव्रती को ही होता है।

गृहस्थ जीवन में एक पत्निव्रत का पालन करना ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत माना गया है। इसमें स्वयं के संकल्प और संयम की महत्ता है। समाज या राज्य के भय से भोग आदि न कर सकता ब्रह्मचर्य नहीं है इतना ही नहीं-स्वपत्नी में भी अतिशय भोग की इच्छा भी व्यभिचार है। उसकी इच्छा के बिना ब्रह्मचर्य व्यभि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार या बलात्कार ही है । विश्व के सभी समाज—फिरके भौतिकवादी पश्चिमी समाज ही क्यों न हो—वहां भी व्यभिचार और बलात्कार के प्रति नफरत ही है । व्यभिचारी व्यक्ति सर्वथा मन—मस्तिक से कमजोर एवं डरपोक होता है । असत्य उसका शस्त्र और चोरी उसका साधन बन जाते हैं । वह निरंतर भयभीत रहता है । ऐसे नर—नारी का समाज में आज भी तिरस्कार किया जाता है । उस पर कोई विश्वास नहीं करता । ऐसा व्यक्ति भी सही अर्थों में मानसिक रोगी ही होता है—क्योंकि उसका ध्यान निरंतर भोगों में ही भटकता है । वह अतृप्त रहता है ।

काम को उत्तेजित करने में भड़कीले वस्त्र, सौन्दर्य प्रसाधन, गहने, चटपटे—चिकने भोज्य पदार्थ महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं । ऐसा व्यक्ति निरंतर अपने सौदर्य के प्रदर्शन में लगा रहता है । वह मधुर भाषण से कलाद्वारा दूसरों को आकर्षित करता है । वासनाओं की पूर्ति करता है । यदि यह संभव न बने तो शक्ति और धन द्वारा अपहरण और बलात्कार जैसे कुकर्म करने में भी नही हिचकता ।

युद्धों ने जहां हिंसा को बढ़ावा दिया वहीं बलात्कार को भी जन्म देकर उसे पल्लवित किया । इतिहास इसका साक्षी है । वर्तमान वेश्या बाजार व्यभिचार के परिणाम और कारणों के ही प्रतीक हैं । आज के सिनेमा नवयुवकों को व्यभिचार की ओर प्रेरित कर रहे हैं । व्यभिचारी शरीर से दुर्बल होता जाता है । ज्यों—ज्यों इस आग में घी पड़ता है त्यों—त्यों प्रज्वलित होती है । जब ईधन नहीं मिलता तब व्यक्ति के शरीर को ही खाने लगता है । परिणाम स्वरुप व्यक्ति क्षय आदि जैसे भयानक रोगों का शिकार बनकर जीवन नष्ट कर लेता है । शास्त्रों में तो कहा है कि अणुव्रत धारी श्रावक को गर्भवती, रजस्वला, रोगिणी, कुंवारी कन्या या अतिवृद्धा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वपत्नि का भी समागम नहीं करना चाहिए। अरे ! इतना ही नहीं किसी की 'शादी आदि कार्यों में निमित्त बनना, पुरुष रहित घर में जाकर स्त्री से संवाद करना, व्यभिचारीणी स्त्री या पुरुष से बात करना, कामसेवन के अंगो के उपरांत क्रीडा करना भी व्यभिचार की कोटि में माने गये हैं। परस्त्री या परपुरुष के अंगो को निहारना, रागकथा सुनना आदि भी ब्रह्मचर्य के अतिचार माने गये हैं। तात्पर्य यह है कि कामवृत्ति को जन्म देने वाले समस्त क्रिया कलापों से दूर रहना चाहिए।

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए आवश्यक है–संयम। चंचल इन्द्रियों और काम पर अधिकार। भले ही मोक्ष की लालसा से नहीं पर संयम और स्वास्थ्य की दृष्टि से व्रत, उपवास आदि का बड़ा महत्व है। इनसे वृत्तियों पर लगाम लगाई जा सकती है। ध्यान की साधना से मनकी वृत्तियों पर संयम सबसे महत्वपूर्ण कार्य है। संयम ही व्यक्ति की इन्द्रीयों को भटकने से बचाने वाला साधन है। फिर, काम–वासना से बचने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंकुश है। एकाग्रता के लिए भी यही संयम मुख्य उपाय है। एक ही वाक्य में कहूं तो "ब्रह्मचर्य की साधना ही सभी साधना का मूल है।" एक ही साधे सब सधै इसी से संभव है।

इस प्रकार साधू को पूर्ण रुपेण और गृहस्थ को एक देशीय रुप से इस व्रत का पालन तनयोग और मनयोग से करना चाहिए।

परिग्रह–परिमाण व्रत :–

परिग्रह अर्थात विशेष रुप से वस्तु का ग्रहण और संग्रह या आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह परिग्रह है। निश्चित दृष्टि से आत्मा के अलावा जितने भी रागद्वेष आदि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, औदारिक नो कर्म आदि सभी परिग्रह हैं। ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा पर बोझ बनकर उसे अस्थिर या लोभ में फंसाकर संसार में भटकते हैं व्यवहार दृष्टि से स्त्री, पुरुष, धन-धान्य, गृह, क्षेत्र, वस्त्र, आभूषण आदि सभी पर पदार्थ है जिनका लोभ मनुष्य को लोभी, चोर कुकृत्य की ओर उन्मुख करता है। इनकी ऐषणा उसे अशांत बनाती है और अप्राप्ति से वह दुखी-निराश बन जाता है। इन पर-पदार्थों में जो मोह रखता है-उसे परिग्रह का दोष लगता है। इन परिग्रहों का संपूर्ण त्याग मुनियों को होता है: जबकि श्रावक आवश्यकतानुसार उन्हें रखता है। उनका परिमाण रखने के कारण वह अणुव्रती साधक है। इस परिग्रह में मूलतः देखा जाये तो वस्तु से अधिक उसमें हमारी ममता या लालच महत्वपुर्ण है। यही लालसा को उत्तरोत्तर बढ़ाना-कुकृत्यो' की ओर प्रेरित करता है।

अनादि काल से मनुष्य में यह संग्रह वृत्ति रही है, जो देश काल के अनुसार उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। आवश्यकता की पुर्ति के पश्चात व्यक्ति में भोग-विलास की भौतिक भूख बढ़ने लगी। वह अधिकाधिक आराम के साधनों में सुख मानकर उन्हें जुटाने में लग गया। इन उपकरणों के लिए धन की सर्वाधिक आवश्यकता हुई। इस धन की प्राप्ति के लिए उसने अनर्गल रास्ते अपनाने शुरु किए। चोरी, असत्य और हिंसा का भी कार्य करने के लिए व्यक्ति प्रवृत्त हुआ। संग्रह की वृत्ति के कारण उसमें शोषण की भाव वृत्ति पनपी। परिणाम स्वरूप शक्तिशाली या तिकडमी व्यक्ति संपन्न बनता गया और शोषित भूखों मरने लगा। इसी प्रकार संग्रह करने वाला या परस्वहरण करने वाला परोक्ष रूप से हिंसा का हिस्सेदार ही बना। इस धन संग्रह की भावनाने व्यक्ति को ही नहीं समाज, राष्ट्र और विश्व को अमीर और गरीब के खेमों में बाँट दिया। आदमी में आदमी ने प्रति घृणा भरी। उसका हृदय कठोर हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया। भूखों बिलखते बच्चों की रोटी छीनने में भी उसे दया नहीं आई। समाज में यह शोषक-शोषितों का वैमनस्य और वर्ग भेद बढ़ता गया।

हजारों वर्ष पहले भगवान महावीर ने अपनी दिव्य और दीर्घ दृष्टि से यह निहारा था कि विश्व में वैमनस्य, विद्रोह आदि के पाप मूल का कारण यह धन ही रहेगा। विश्व के मानव में मानवता बढ़े-इसी उद्देश्य से उन्होंने अपरिग्रहवाद को विशेष महत्व दिया। इस अपरिग्रह के माध्यम से उन्होंने कहा कि जिनके पास आवश्यकता से अधिक द्रव्य या साधन हैं वे उन लोगों को देकर मदद रूप बनें, जिनको इनकी जीवन यापन के लिए आवश्यकता है। साथ देने वाले के मन में संतोष और प्राप्त करने वाले के मन में सद्-भावना रहे। वर्ग-विग्रह दूर करने का इससे उत्तम उपाय क्या हो सकता था? यह समानता संपूर्ण अहिंसक और प्रेम की नींव पर स्थापित थी।

यह सत्य है कि अमीरी-गरीबी कर्मों का फल है, पर व्यवहार में पारस्परिक मदद ही द्वेषभाव, संघर्ष को दूर कर सकते हैं।

भ. महावीर की इस दृष्टि को कबीर समझे तभी तो वे कहते हैं-

"साईं इतना दीजिए जामें कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा न रहूं साधू न भूखा जाय॥"

एवं वे संग्रह खोरों को समझाते हैं—

"पानी बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलीचिए, यही सज्जन को काम॥

इस चर्चा से एक स्पष्टता हुई कि वस्तु की उपलब्धि हो-पर उसे त्यागने का भाव हो तभी अपरिग्रह है अन्यथा सो हर वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति जो साधन सम्पन्न नहीं है अपरिग्रही ही कहलायेगा । मूल भाव हैं–वस्तु के होने पर भी भावों में संग्रह की वृत्ति और लोभ नहीं । त्याग या अधिक सुविधाओं को घटाकर परिमाण करने का, दान देने पर बड़ाई की चाहना न रखकर, प्रसिद्धि की भावना से मुक्त रह कर उस धन से ममत्व छूटना ही सच्चा दान एवं परिग्रह का त्याग है । जब व्यक्ति परपदार्थों से ममत्व छोड़ता है तभी वह तटस्थ या निर्लिप्त भी बनता है । सुख–दुःख में समता धारण कर सकता है । तभी वह परिग्रह को छोड़ पाता है । जब हम बाह्य परिग्रहों से मुक्त होने लगते हैं तभी अन्तर–परिग्रह कषाय आदि से भी मुक्त होने लगते हैं । दृष्टि ही बदलने लगती है । यही इच्छाओं को रोकना सच्चा तप कहा गया है । और शल्य रहित को ही सच्चा व्रती कहा है ।

कुछ लोग तर्क करते हैं कि ईमानदारी से धन कमाने का निश्चय करें तो भूखों मर जायें । पर, ऐसे लोगों ने उदाहरण ही गंदे नाले का लिया । अच्छा होता वे प्रवाहित नदी की ओर निहारते । बहता जल ही निरंतर शुद्ध रहता है । कुकर्म से प्राप्त धन अशांति, मानसिक रोग एवं उसके रक्षण के लिए व्याकुलता ही बढ़ाता है । अपरिग्रही श्रावक को लोभ में आकर मनुष्य एवं पशुओं से शक्ति से अधिक काम नहीं कराना चाहिए । युद्ध आदि की परिस्थिति में संग्रह या कालाबाजारी नहीं करनी चाहिए । अन्य के सुख से द्वेष नहीं करना चाहिए । अधिक लाभ के लिए लालायित नहीं होना चाहिए तथा लाभ के लिए लोभवश मर्यादा नहीं बढ़ानी चाहिए ।

भगवान महावीर के इन सिद्धांतो को भूलने के कारण ही शोषित लोगों की भूख उफन पडी । उसमें ईर्षा जन्मी और फिर रक्तपात युक्त क्रांति हुई । कार्ल मार्क्स के इसी सिद्धांत का प्रयोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेनिन ने रशिया और माओने चीन में किया। लाखों लोग मौत की शरण पहुँचा दिए गये।

महावीर का समतावाद ही विनोबाजी का सर्वोदयवाद एवं गांधीजी के ट्रस्टीशीप के विकास का ही आधुनिक रुप है।

पाप का बाप ही लोभ है। उसका संयमन ही अपरिग्रहवाद है। लोभ व्यक्ति को संग्रह की प्रेरणा देता है एवं दान के लिए रोकता है। अरे! लोभी तो स्वयंभी खा-पी नहीं सकता। वह धन के पीछे विवेकहीन होकर दौड़ता है। जिस दिन हम कम से कम वस्तुओं से अपना जीवन चलाना सीख लेंगे तभी से हमारे अंदर लोभ मरने लगेगा। संतोष का सूर्य ऊगेगा और अपरिग्रह की शाँतिरुपी सभानता खिल उठेगी।

वर्तमान विश्वशांति का एक मूल उपाय है-संग्रह वृत्ति का त्याग, बाँट कर खाने की भावना का विकास। इसी से प्रेम व मैत्री बढेगी।

ये पंच महाव्रत जिसमें दृढ होने लगते हैं वही मुक्तिपंथ का पथिक बन जाता है। वही सम्यक्दृष्टि होता है। इन पांच महाव्रतों को अधिक दृढ़ बनाने के लिए गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का पालन या स्वीकार भी आवश्यक है। वैसे परस्पर पूरक हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणव्रत

जैसा कि ऊपर कहा है कि गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत महाव्रतों को ही पुष्ट करने वाले तत्व हैं। दूसरे शब्दों में अधिक सूक्ष्मता से महाव्रतों के पालन मे ये सहायभूत तत्व हैं। गुणव्रत तीन हैं-

(१) दिग्व्रत।
(२) अनर्थदंडव्रत।
(३) भोगोपभोग परिमाणव्रत।

दिग्व्रत : आवश्यकता से अधिक आवागमन करने से भी हिंसा आदि कार्य होते हैं। अतः मोक्षमार्ग का साधक दशों दिशाओं में अपने आवागमन को निश्चित दूरी तक प्रतिबद्ध करता है। वह वन, पर्वत, नदी, नगर या प्रदेश के चिह्न या उन्हें तय करता है। आधुनिक युग में कुछ किलोमीटर तक का क्षेत्र निश्चित किया जा सकता है। इसके साथ ही बाह्य सांसारिक विषय—कषाय संबंधी कार्यों के लिए मेरा जीवन नहीं है—ऐसा जीवन मैं नहीं जिऊंगा—इस प्रकार का निर्धारण करना भी इस के अन्तर्गत है। क्योंकि जब क्षेत्र आदि निश्चित होंगे तब स्वाभाविक रुप से समारंभ—समारंभ और आरंभ की क्रियायें सीमित होंगी। कषायों का संयम होगा।

दिग्व्रत धारी प्रमाद में भी निश्चित सीमा का उल्लंघन नहीं करता। वैसे ऐसे व्रती श्रावक के लिए प्रमाद का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। इस व्रत के मूल मे ही तृष्णा के संयम का भाव है—जो सभी अनर्थों की जड़ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनर्थदंडव्रत : दिशाओं निश्चित सीमाओं का नियम पालते हुए भी उन सीमाओं तक भी निष्प्रयोजन गमन नहीं करता । यदि इन सीमाओं तक जाने में धर्म की हानि हो, हिंसादिक कार्य करने पड़ें या लोक विरुद्ध कार्य होते हों तो वह उन सीमाओं को भी संकुचित कर लेता है । वहां जाना ही नहीं है, क्योंकि इससे दीर्घ दुःख दंडस्वरुप भोगने पड़ते हैं । वहां प्रमाद का अतिचार होता है । इस व्रत का पालक ऐसा उपदेश नहीं देता जिससे हिंसा हो । ऐसा साधन न बेचता है न देता है जिससे हिंसादि कार्य कार्योन्वित होते हों । वह रागद्वेषमय होकर किसी के अहित की बात नहीं सोचता । चित्त में क्लेष, मिथ्यात्व बढ़ानेवाला साहित्य का पठन-पाठन, कथन या श्रवण नहीं करता । निष्प्रयोजन पृथ्वी, जल आदि पांच प्रकार के जीवों का छेदन-भेदन नहीं करता । वह अपशब्द या हृदय को कष्ट देने वाले शब्द नहीं कहता और न हँसी-ठट्ठा ही करता है । । इस व्रत में अहिंसा को अधिक मजबूत बनाने का ही प्रयास है । पंचभूत जीवों की करुणा पर इसमें विचार किया गया है ।

भोगोपभोग परिमाण व्रत :

इस व्रत के अन्तर्गत रागादि भावों को मंद करने के लिये परिमाणव्रत की मर्यादा में भी समय या काल के प्रमाण से कम से कम भोगेच्छाओं को परिमित या सीमित बनाने का प्रयास करना या उनमें भी अत्यल्प परिमाण करना ही भोगोपभोग परिमाण व्रत हैं । ऐसा परिमाण व्रत कुछ महिना वर्ष या आजीवन के लिए धारण किया जाता है । जिन वस्तुओं के खाने या प्रयोग करने में त्रस जीवों की शंका हो उनका त्याग किया जाता है । जमीकंद जैसी वनस्पति का संपूर्ण त्याग अपेक्षित है । जैनधर्म में "भक्ष्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सक्ष्य" की चर्चा के अन्तर्गत इस व्रत का समावेश हो जाता है। संक्षिप्त में इतना ही कि हमारे भोजन अहार-विहार में सर्वत्र कम से कम वस्तुओं का उपयोग हो। साधनों के परिमाण को निरंतर घटाते रहें यही मूल उद्देश्य है।

शिक्षाव्रत

इसमे (१) देशावगाशिक व्रत।
(२) सामायिक व्रत।
(३) पौषधोपवास व्रत एवं
(४) अतिथिसंविभाग व्रत।

देशावगाशिक शिक्षाव्रत :

देशावगाशिक व्रत परिमाण व्रत का ही एक स्वरूप है। दिग-व्रत मे साधक यावज्जीवन दिशाओं में गमन करने की सीमा का नियम लेता है-परंतु उन सीमाओं में भी उसे अमुक स्थान या दूरी तक जाने की आवश्यकता ही नही पड़ती ऐसे स्थान या सीमा जितनाक जाने की आवश्यकता नही पड़ती उन स्थानों तक भी जाने का नियम लेना या गमनागमन को परिमाणित कर देना इस व्रत के अन्तर्गत है। इस प्रकार सीमाओं का परिमाण घटाने के उद्देश्य में द्रव्य और भाव हिंसा से बचना है।

सामायिक शिक्षाव्रत :

सामायिक शिक्षाव्रत में सामायिक के गुणों का पालन अभि-प्रेत है। इसकी चर्चा सामायिक के अन्तर्गत कर चुके हैं-अतः पुनरावर्तन की आवश्यकता नहीं सामायिक तो स्वयं पूर्ण योग है। इसका पूर्णरूप से शास्त्रीय ढंग से पालन या साधन करने वाला योगी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पौषधोपवास शिक्षाव्रत :

पौषधोपवास व्रत में उपवास एकासन आदि के पालन, नियम संयम आदि का समावेश होता है। इसकी चर्चा हम व्रत–उपवास के अन्तर्गत कर चुके हैं। अतः यहां पुनरावृत्ति नही करेंगे।

अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत :

यद्यपि अतिथि सेवा सत्कार का भाव भारतीय संस्कृति की अपनी विशिष्टता है। जैनाचार्यों के कथनानुसार दाता और पात्र दोनो की रत्नत्रय धर्म की वृद्धिहेतु, समकित् आदि गुणो से युक्त अनागार साधुओं को निरपेक्ष भाव से दान देना या सेवा करना अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत का पालन करना या धारण करना है।

कार्य मे किसी लौकिक धनसंपत्ति आदि की प्राप्ति की ऐषणा नहीं होनी चाहिए। सच्चे अतिथि परिषह सहन करने वाले, मोक्ष मार्ग में आरूढ मुनि हैं। जो तपस्या एवं ज्ञान वृद्धि के लिए इर्यापथ का व्रत पालन करते हुए श्रावकों के घर आहार के लिए पधारते हैं। नवधा भक्तिपूर्वक इनका आहार देना, वैय्यावृत्ति करना अतिथि संविभागव्रत है।

दूसरे शब्दो में कहें तो धर्माचरण मे तल्लीन मुनि—त्यागी व्रती की भोजन आदि द्वारा सेवा करना इसका ध्येय है। इस प्रकार के अतिथियों की सेवा से हमारा मन निर्मल होता है। भावनाएं पवित्र होती हैं। और हम वासना आदि कषायों से मुक्ति का अनुभव प्राप्त करते हैं।

इन बारह व्रतों की चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि हम अपने व्यावहारिक जीवन मे सरल बने, सत्य का व्यवहार करें, हिंसा से बचें, संग्रह आदि के दूषणों से मुक्त होकर आत्मसाक्षात्कार की ओर अग्रसर हों। मन–वचन–कर्म एवं कृतकारित अनुमोदन से भी हमारे द्वारा कोई हिंसात्मक वृत्ति न हो। हम मर्यादा का पालन करते हुए जीवन जीने की कला सीखें। जिसे जीवन जीना आ गया उसे मुक्ति का पथ स्वयं मिल जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बारह भावना या अनुप्रेक्षाभावना

बारह भावनाओं के नाम से प्रायः प्रत्येक जैन परिचित है। इनका पठन भी प्रायः नित्य करते हैं। परंतु, इनके हृदय या अन्तरंग भाव से कम ही परिचित होते हैं। हम जानते हैं कि जैनधर्म की नींव अहिंसा आदि पंचव्रत है और त्याग आदि भाव उसकी इमारत हैं। भोगों को हेय और त्याग, सरलता आदि भाव प्रेय रहे हैं। पुद्गल अर्थात पंचभूत के शरीर से निर्मोह एवं आत्मा की उज्जवलता एवं परिष्कार के लिए सदैव चिंतवन किया गया है। बाह्यजगत से आन्तरिक जगत की ओर मुड़कर चचलता से स्थिरता की ओर प्रतिष्ठित होने की निरंतर भावना उसमें समाई हुई है। मन के घोडे पर संयम की लगाम की उसमें निरंतर आदेश है। संसार यद्यपि राग-रंग की झिलमिलाहट से दमकता है तथापि वह अनित्य, मर्त्य, परिवर्तनशील आदि युक्त है। ऐसे संसार से विमुक्त होकर अमर, नित्य, अजन्मा, आत्मा की साधना एवं आवागमन से मुक्त मोक्ष की कामना का निर्देश किया गया है। तात्पर्य कि अनित्यता से नित्यता, मर्त्य से अमर्त्य, अंधकार से प्रकाश, शरीर से आत्मा और चंचलता से स्थिरता की ओर जाने की क्रिया और उसका नित्य स्मरण व आचरण ही इन भावनाओं का मूल उद्देश्य है।

अनुप्रेक्षा अर्थात निरंतर पुनः-पुनः चिन्तन करना। मोक्षमार्ग का पथिक वैराग्य-भाव की वृद्धि हेतु इन अनुप्रेक्षा भावों का चिंतवन करता हुआ साम्य स्थिति मे प्रतिष्ठित होता है। तत्वार्थसूत्र में ऐसा ही उल्लेख है। प्रसिद्ध ग्रंथ धवला में कहा है कि कर्मों की निर्जरा हेतु श्रुतज्ञान का परिशीलन करना ही अनुप्रेक्षा है। कहा भी है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान ।
रसरी आवत जानि के सिल पर परत निशान ।।

इन भावनाओं या अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करने वाला साधक ध्यानस्थभाव में स्थिर होने लगता है । श्वास पर उसका नियमन एवं नाड़ीतंत्र पर उसका अधिकार बनने लगता है । दूसरे शब्दों में कहें तो वह जितेन्द्रियता का अभ्यासी होने लगता है ।

अनुप्रेक्षाध्यान में एक यह भी ध्यान रखना होता है कि मात्र बारह भावनाओं का रटन या कोरा स्मरण ही न हो परंतु सर्वप्रथम मन-वचन और काया की त्रिगुप्ति साधना का अभ्यास भी हो । अर्थात व्यक्ति मन-वचन और काया से एक सूत्रता में आबद्ध हो । पहले दशों दिशाओं में भटकते मन को वासना आदि से अलिप्त बनाकर स्थिर करने के लिए प्रेक्षाध्यान या योग ध्यान का अभ्यास करना होगा । मन के स्थिर होते ही वचन में स्थिरता होगी । कहने से अधिक न कहने का मूल्य बढ़ेगा । काया स्थिर होगी अर्थात चारित्र्य का पालन होगा । कथनी और करनी में साम्य होगा । व्यवहार में भी देखते हैं कि जिसका वचन और कर्म समान होता है वह सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है । वह निरर्थक बोलता नहीं-क्रिया करता नहीं । मन की साधना के लिये वचन गुप्ति अर्थात मौन की साधना होने लगती है । यह मनोवैज्ञानिक प्रयोग-सिद्ध बात है कि मौन व्यक्ति में शांत चित्त से विचार करने की शक्ति बढ़ती है । मौन द्वारा संग्रहीत शक्ति मन और काया को दृढ़ करती है । कम बोलने से क्रोध आदि से बचा जा सकता है और दुश्मनों की संख्या भी नहीं बढ़ती । मन वचन से दृढ़ व्यक्ति कठिन साधना में भी स्थिर रह सकता है; कष्ट, सहिष्णुता उसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पनपने लगती है। फिर साधना के लिये शरीर को भोजन कराता है रस लोलुपता के लिये नहीं। वह कायोत्सर्ग द्वारा शरीर के प्रति मोह त्यागता जाता है। बाह्य कष्ट या प्रलोभन उसे डिगा नहीं सकते। बाहुबली के शरीर पर बेलें चढ जाएं या शरीर पर चींटी सर्प घूमते रहें कोई अनुभव ही नहीं होता। शरीर तो गौण हो जाता है आत्मा ही साध्य बन जाता है। ऐसा साधक निर्भार और पूर्ण निर्भय बन जाता है। शुक्ल लेश्यायें दीप्त हो उठती हैं। साधक जीतेन्द्रिय बन कर तीर्थंकरत्व तक प्राप्त कर सकता है।

इन अनुप्रेक्षाओं के १२ भेद किए गए हैं...

१-अनित्यभाव २-अशरणभाव ३-संसारभाव ४-एकत्वभाव ५-अन्यत्वभाव ६-अशुचिभाव ७-आस्रवभाव ८-संवरभाव ९-निर्जराभाव १०-लोकभाव ११-बोधिदुर्लभभाव १२-धर्मस्वाख्यातभाव

१-अनित्यानुप्रेक्षा : निरन्तर परिवर्तित, क्षयमान संसारके प्रति जब साधक इस प्रकार विचारने लगता है कि आत्मा समस्त विकारों से रहित है। संसार के समस्त भौतिक सुख, धन-धान्य, परिवार आदि के सुख अनित्य है, नष्ट हो जाने वाले हैं। पानीके बुलबुलों की भांति फूट जाने वाले हैं। अज्ञानवश या प्रमादवश ही लोग उसमें लिप्त रहते हैं। इस प्रकार वह संसार की अनित्यता का ध्यान करते हुए आत्मा का चिंतन करते हुए शाश्वत मोक्ष की ओर ध्यानस्थ होने लगता है।

२-अशरणानुप्रेक्षा : मृगमरीचिका जैसे संसार को अपना रक्षक या शरण मानने वाला साधक सत्यज्ञान के प्रगट होते ही सम्यग्दर्शन ज्ञान-चरित्र रूपी त्रिरत्नों को ही सच्चा शरण मानने लगता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है । संसार का द्रव्य भी मृत्यु-रोग से बचा नहीं सकता । मनुष्य को कर्मों के फल भोगने ही पड़ते हैं । इस सत्य को समझने वाला सम्यग्दृष्टि शाश्वत शरण में जाता है । वह स्पष्ट रूप से जान लेता है कि संसार के पदार्थ कभी शरण नहीं दे सकते ।

३-संसारानुप्रेक्षा : प्रत्येक जीव मुक्ति चाहता है । वह संसार के आवागमन से मुक्त होकर मोक्ष में स्थिर होना चाहता है । संसार जन्म, मरण, रोग आदि का स्थल हैं । जीव कर्म के निमित्त से संसार में भ्रमण करता है । एवं संसार से उत्पन्न वासनायुक्त संसार में भटकता है । संसार के कथित सुखों के पीछे भटकता है । यह संसार की भटकन ही युगयुगों तक पुनः पुनः जन्म मरण के चक्कर कटवाती है । ऐसे संसार से मुक्त होने की भावना करते हुए साधक संसार की वासनाओं में फंसने से बचता है । भोग विलासों से दूर रहता है । संसार मुक्ति की निरन्तर खेवना करता है ।

४-एकत्वानुप्रेक्षा : हम कितने भ्रम में जीते हैं यह मान कर कि मै परिवार वाला हूं । मेरे साथ परिवार, समाज है । परन्तु यह भ्रम उसका टूट जाता है जिसको धर्म की आँख प्राप्त होती है; अर्थात जिसने सम्यक्दृष्टि से इस सत्य को समझ लिया है कि मैं अकेला जन्मा हूं । अपने समस्त कर्मों के बंध मुझे अकेले ही भोगने पड़ेंगे । जन्म-जरा-रोग-मृत्यु आदि के दुख में मेरा कोई सह भागी नहीं होगा । अन्य उसे दूर भी नहीं कर सकेंगे । आज भी अपने माने हुऐ हूं वे मृत्यु के पश्चात मात्र इस देह को स्मशान तक ही ले जा सकेंगे । ऐसा ज्ञान प्राप्त करने वाला फिर संसार में जलवत कमल की भाँति एकत्व भाव धारण करके आत्मा और धर्म को ही अपना एक मात्र साथी मानने लगता है । परद्रव्य और परजनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के प्रति निर्मोह भाव धारण करने लगता है। संसार का और लोगों का साथ छूटने पर वह निरर्थक चिन्ता से बचता है। अपने आप में लीन होने लगता है।

५-अन्यत्वानुप्रेक्षा : साधना पथ का पथिक जब इस शरीर से निर्मोही बन कर उसे अनित्य और अशरण मानने लगता है। जब वह वास्तविक अन्तःप्राण को देखने लगता है तब उसमें अन्यत्व भाव-बोध अंकुरित होने लगता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह भेद विज्ञान-दृष्टि पर स्थिर होने लगता है। वह शरीर और आत्मा के पृथकत्व बोध को प्राप्त होता है। आत्मा शरीर के द्वैतभाव को वह समझ लेता है। मैं शरीर नहीं हूं यह दृष्टि उसकी विकसित होती है। यों कहें कि वह अपने स्वरूप के सत्य को जानने लगता है। उसके ज्ञान का तीसरा नेत्र खुलने लगता है। जब वह स्थूल शरीर के भेद से वह आत्मा के सूक्ष्म शरीर का पृथकत्व जान लेता है तब वह स्वयं को अतीन्द्रिय अनुभव करने लगता है। वह ज्ञाता द्रष्टा की भूमिका में प्रस्थापित होने लगता है। नित्यानित्य के भेद को जानते हुए शरीर की अनित्यता और आत्मा की नित्यता को समझ लेता है। जब शरीर का इस आत्मा से संबन्ध ही नहीं है ऐसा एकत्व-पना दृढ़ बनता है, तब मोहमाया से हटकर वह धर्मसाधना में दृढ़ होता है। उसकी कुंडलिनी जागृत बनती है।

६-अशुचित्वानुप्रेक्षा : मनुष्य को यदि सबसे अधिक मोह और चिंता होती है तो अपने शरीर से। वह शरीर को सुंदर पुष्ट बनाने के लिये उसीमय बना रहता है। मैं सुंदर हूं, सुंदर दिखाई दूं और लोग मेरी सुन्दरता की प्रसंशा करें यही उसकी महत्वाकांक्षा रहती है। सुन्दरता और शक्ति का मद उसे चढ़ता है। शरीर सौंदर्य द्वारा वह वासनामय बनकर भोगविलास में फँसता है। व्यभि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार आदि की ओर उन्मुख होता है । शरीर की सुख-सुविधा सौन्दर्य और लोलुपता के कारण भक्ष्याभक्ष्य खाने में विवेकहीन हो जाता है । वह भूल जाता है कि शरीर अनंतरोगों का घरहै वह । मल मत्र आदि से भरा है । जिसे सही ज्ञान या आत्मजागृति प्राप्त होती है वह इस शरीर के मोह को त्याग देता है । निरंतर सोचता है कि अरे ! यह तो अशुचि का घर है । इसमें फँसे आत्मतत्व को मुझे शुचिता की ओर ले जाना है इस का एका-एक छिद्र गंदगी का द्वार है । सुगंधित द्रव्य भी इसे सुगंधमय नहीं कर सकते-उनसे वे द्रव्य भी दुर्गंध युक्त हो जायेंगे । ऐसे अशुचि तन के प्रति साधक निर्मोही बनकर जीता है । उसकी समग्रदृष्टि बाह्य शरीर से हटकर अंतरात्मा की ओर लग जाती है । फिर उसे भोजन से अधिक भजन में आनंद मिलता है । शरीर से अधिक आत्मा का सौन्दर्य उसे भाने लगता है ।

(७) **आस्त्रवानुप्रेक्षा** : आस्रव अर्थात आना । इस आत्मा के साथ शुभ या अशुभ कर्म निरंतर जुड़ते रहते है । इन शुभा-शुभ कर्मो का आत्मा के साथ जुड़ना ही आस्रव है । चाहे शुभ कर्म हों-चाहें अशुभ कर्म आत्मा को दोनों प्रभावित करते हैं । अपनी अपनी कार्यसम्पन्नता के कारण वे पुण्य-पाप का बंध कराते हैं परिणाम स्वरूप दोनों संसार में आवागमन कराने वाले पदार्थ होने से मुमुक्षुजीव उन्हें आत्माके साथ जुडने से बचाता है । इन कर्मो का आगमन सागर के ज्वार सा होता है जिसे मात्र ध्यान या साधना से ही रोका जा सकता है । यों कहा जा सकता है कि ये कर्म चिकने पत्थर से हैं जिन पर पांव पड़ते ही फिसलन हो जाती है । साधक, जिसे भेद-विज्ञान हो गया-वह निरंतर सजग हो जाता है । चर्मचक्षु के स्थान पर वह ज्ञानचक्षू से या साधना के तीसरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नेत्र से सदैव देखता रहता है और अप्रमादी बनकर इन कर्मों को आने से रोकता रहता है। वह ऐसे कोई कार्य या भावना नहीं करता जिससे इन कर्मों को प्रवेशपाने का मौका मिले। साधना की उच्चभूमि पर स्थित साधक जानता है कि संसारचक्र में भटकानेवाले ये कर्म ही मेरे परम शत्रु हैं, मोक्षमार्ग के बाधक हैं। ऐसी भावना और सजगता के कारण नए कर्मों का बंध रोका जा सकता है। ऐसी भावना से नए कर्म तो रुकते हैं पुराने कर्म भी क्षयत्व प्राप्त करने लगते हैं। कर्मों का आगमन ही संसार है। संसार ही मोह माया भ्रमण है। इसे साधक रोकता है।

(८) **संवरानुप्रेक्षा :** 'संवर' अर्थात रुकना–रुकावट–थमना आदि। आत्म–साधक जब शुभा–शुभ कर्मों को रोकने के लिए तत्पर बनता है तब वह संसार से अलिप्त या तटस्थ बनने लगता है। नए कर्मों का बंध रुक जाता है। यह नव–कर्म–बंधन का रूकना या थमना ही संवरभाव है। यों कहना समचीत होगा कि छिद्र युक्त घट के छिद्र बन्द हो जाते हैं। अभी तक उसे दो मोर्चों पर रत रहता था–एक आनेवाले कर्मों से लोहा लेना था और दूसरे संचित कर्मों का क्षय करना था। जब संवर भाव दृढ़ होते हैं तब तक आस्रव या कर्मों का आगमन थम जाता है। इससे आनेवाले कर्मों की चिंता कम हो जाती है। साधक दूने वेग से संचितकर्मों का क्षय या निर्जरा करने लगता है। वह मन–वचन और काया से आत्म ध्यान में लीन होने लगता है। उसकी चित–एकाग्रता इतनी आत्मलक्षी और दृढ़ हो जाती है कि बाह्य कर्म द्वारे पर ही सिर पटकर रह जाते हैं। कहा भी है कि लोभ या लालच कमजोर को ही दबाते हैं। यहां तो साधक वज्र हो गया है। उसका सहस्रारचक्र मुस्तैद हो रहा है। वह क्रमशः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान में प्रवेश करता है। मोक्षमार्ग के यत्-किंचित अवरोध भी वह शनैः-शनैः दूर करने लगता है।

(९) **नीर्जरानुप्रेक्षा :** आस्रव के रूकने का नाम संवर है। संवर या रुकावट के होते ही निर्जरा या नष्ट होने की क्रिया स्वयमेव प्रारंभ हो जाती है। नये कर्मो का आवागमन, साधक की दृढ़ता और संचित कर्मो को तिरोहित करने की दृढ़ भावना से चित कर्म वैसे ही खिरने या झड़ने लगते हैं जैसे आग लगने पर सूखे पत्ते जलने लगते हैं। साधना की ज्योति के प्रज्जवलित होते ही कर्मो का क्षय अंधकार की भांति होने लगता है। अनिर्वचनीय आनंद साधक को मिलने लगता है। सच्चे आनंद का स्रोत बहने लगता है। नई ऊर्जा नया विस्फोट एक नई क्रांति की ओर ले जाती है। वेदनाओं का शमन या निराकरण होना ही निर्जरा है साधक साधना में इतना दृढ हो जाता है कि उसे शीतादि परिषहों का भी ध्यान नहीं रहता। वह शरीर लोक से आत्मलोक में रमण करने लगता है। कर्मो की निर्जरा ही उसे 'केारा' या निराकार बनाती है। यही चरमशुद्धि मोक्ष के योग्य बनाती है। मैं अपने कर्मो का क्षय या निर्जरा करके परमपद को प्राप्त करूँ यही भावना साधक को निरंतर मानी चाहिए।

(१०) **लोकानुप्रेक्षा :** मोक्ष पथ का पथिक निरंतर इस संकल्पना का ध्यान करता है कि इस चौदह राजू-मनुष्याकृति के लोकाकाश में यह जीव युग-युगांतर से जन्म-मरण की क्रियाये' कर रहा है। कभी शुभ योग से देव या मनुष्य बना तो कभी अशुभ योग से पशु-नारकी बना। ऐसे लोक के प्रति वह धिक्कार भाव भाता है। यह वह लोक है जहाँ सुख दुःख की आंखमिचौनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चलती रहती है ! सुख भी मृगमरीचिका सा है । निरंतर परस्पर संबध बंधते और टूटते हैं । जो सुख-दुःख का कारण बनकर क्लेश ही उत्पन्न करते हैं । ऐसे लोक को छोड़कर वह उस सिद्धशिला पर पहुंचने की भावना भाता है जहां से आवागमन का दुःख ही छूट जाये । फिर न संबध बंध ना टूटे । फिर दुःख या सुख की बीमारी ही न रहे । संसार समुद्र के फेन सा कमजोर और बिजली सा चंचल है । बस ! इसी चंचलता से मुक्त होने की भावना साधक को उर्ध्वगति की ओर ले जाती है ।

(११) **बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा :** साधक निरंतर उस भावना में प्रतिष्ठित होना चाहता है जहां वह सम्यकज्ञान की प्राप्ति कर सके सम्यग्ज्ञान की भावना करना या निरंतर खेवना करना ही बोध दुर्लभ भावना है । शब्द ही यह स्पष्ट करता है कि दुर्लभ ज्ञान या सच्चाज्ञान प्राप्त करने का चिन्तवन ही बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा है । हमारे जन्म-जन्मांतरों के जमे हुए कुज्ञान या अज्ञान के संस्कार हमें जकडें हैं । उन्हीं के कारण हम असत्य को सत्य और अनित्य को नित्य मान बैठे हैं । नष्ट शरीर को शाश्वत और शाश्वत आत्मा के प्रति उदासीन हैं । साधना का वही क्षण सबसे कीमती होता है जब साधक इन उल्टी बातों को सही जानने का प्रयास करने लगता है । उसकी भेद विज्ञान-दृष्टि उत्पन्न होते ही वह वस्तुके यथास्वरुप को जानने लगता है । यही जानना और जानकर सत्याचरण के प्रति समर्पित होना ही सम्यकत्व प्राप्ति की ओर अग्रसर होना है । जैसे को तैसा जानने का चिंतवन ही बोधि दुर्लभ है । इसी ज्ञान से वह निजात्म-स्वरुप की ओर देखने लगता है । इसी ज्ञान की उपलब्धि से संवर और निर्जरा के भाव जागते हैं । इन्हीं से चरित्र धारण करने की भावना पनपती है । बस !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान हो गया, चारित्र्य साधना का योग हो गया—साधक मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है ।

(१२) **धर्मस्वाख्यातानुप्रेक्षा :** इस भावना तक यात्रा करने वाला साधक यात्री राग-द्वेष आदि कषाय भाव से ऊपर उठ कर श्रावक या मुनि धर्म से ऊपर उठ कर एक मात्र आत्मधर्म की आराधना करने लगता है । आत्मा के धर्म अहिंसा से ब्रह्मचर्य तक के धर्मों का चिंतवन और अनुभव करने लगता है । उसे यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि आत्मा का सही धर्म या लक्षण क्या है यह ज्ञान होतेही वह इन्हीं का चिंतवन या आराधन करने लगता है ।

इस प्रकार इन अनुप्रेक्षाभावों की चर्चा करते हुए इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि जैन साधना में ध्यान को अत्यन्त महत्व दिया गया है । जैन धर्म में सामायिक एवं जो अनुप्रेक्षा भावों का चिंतवन है वही ध्यान का मूल है । साधक क्रमशः बाह्य भौतिक विश्व, भौतिक सुख-दुख, बाह्य देह आदि का अतिक्रमण कर मनोजगत, आध्यात्मिक आनंद एवं आत्मा में लीन होने लगता है । वह इस सिद्धि के लिऐ ध्यान-साधना करता है । श्वास पर नियमन करता है । शरीर में चक्रों को जागृत बनाता है । नाभि चक्र से उसकी यात्रा का प्रारंभ होकर क्रमशः सहस्रचक्र पर पूर्ण होते होते वह परम पद या निर्वाण को प्राप्त होता है । फिर वह जो चाहता है वह अनुभवता है । मन उसका होता है— वह मन का नहीं । ज्ञान का नेत्र उन्मीलित होते ही वह सत्य का आलोक निहारता है । ज्ञान का बोध होते ही तिमिर को हटाता है । फिर जिस आत्मानुभूति या आत्मानंद का अनुभव करता है—वह अलौकिक निरानंद होता है । बस ! ध्यान इतना ही रखना है कि इस आनंद के लिए मात्र अकेला ही जाना होगा । संसार—छोड़ना होगा ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान के प्रदीप से अंधकार को दूर करना होगा। इस आत्मलोक में प्रकाश ही प्रकाश होगा—प्रकाश का लहराता सागर होगा। यही साधना की पराकाष्ठा या पूर्णता होगी जहां बाह्य नहीं—आंतरिक आनंद का अनुभव होगा।

क्रमशः इस संसार और उसके संबन्धों से सिमिट कर अपने में लीन होना ही योग या ध्यान है। उस ध्यान में चिंतवन की क्रिया ही प्रेक्षा है।

जैनधर्म का कर्मसिद्धांत

कर्म-सिद्धांत या कर्मवाद जैनदर्शन का प्राण सिद्धांत है। कर्म स्याद्वाद की नींव पर ही इसकी इमारत अवस्थित है। कर्म का यह सिद्धांत जैन दर्शन की वैज्ञानिकता पर प्रकाश डालता है और पुष्ट भी करता है। प्रत्येक जीव की स्वतंत्र सत्ता एवं कर्मठता इसी से सिद्ध हो सकती है। मात्र किंचिम द्वेश से इसे अनात्मवादी या नास्तिक दर्शन कहने वालों को स्वतः उत्तर मिल जाता है।

सामान्यतः कर्म अर्थात कार्य का परिचायक शब्द है। हम जोभी कार्य करते हैं वे सभी कर्म के अंतर्गत समाहित है। हम जो जैसा कर्म करेंगे वैसा फल भोगना होगा—ऐसी मान्यता प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार की है। हमारी समस्त प्रवृत्तियों के मूल में प्रेरणास्वरूप या निमित्त स्वरुप रागद्वेष रहते हैं। ये ही संस्काररुप स्थाई बनकर परिणाम देते है और 'संसार' बनाते रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म में कर्म की चर्चा करते हुए श्री जिनेन्द्रजी वर्णी अपने कोष में निर्देश करते हैं कि–'कर्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं यथा कर्मकारक, क्रिया तथा जीव के साथ बंधनेवाले विशेष जाति के पुद्गल स्कंध। कर्मकारक जगत प्रसिद्ध है, क्रियायें समवदान व अधःकर्म आदि के भेद से अनेक प्रकार हैं...परंतु तीसरे प्रकार का कर्म अप्रसिद्ध है केवल जैन सिद्धांत ही उसका विशेष प्रकारसे निरूपण करता है। वास्तव में कर्म का मौलिक अर्थ तो क्रिया ही है। जीव–वचन–कार्य के द्वारा कुछ न कुछ करता है। वह सब उसकी क्रिया या कर्म है और मन, वचन व कार्य ये तीन उसके द्वार हैं। इसे जीव कर्म या भावकर्म कहते हैं। यहां तक तो सब को स्वीकार है। परंतु, इस भाव कर्म से प्रभावित हो कर कुछ सूक्ष्म जड़ पुद्गल स्कंध जीव के प्रदेशों में प्रवेश पाते हैं और उसके साथ बँधते हैं यह बात केवल जैनागम ही बताता है। ये सूक्ष्म स्कंध अजीव कर्म या द्रव्य कर्म कहेलाते हैं और रुप रसादि धारक मूर्तीक होते हैं। जैसे–जैसे कर्म जीव करता है वैसे ही स्वभाव को लेकर ये द्रव्य कर्म उसके साथ बंधते हैं और कुछ काल पश्चात परिपक्व दशा को प्राप्त होकर उदय में आते हैं। उस समय इनके प्रभाव से जीव के ज्ञानादि गुण तिरोभूत हो जाते हैं। यही फलदान कहा जाता है। सूक्ष्मता के कारण व दृष्ट नहीं है। (जै. सि. के पृ. २४ में)

यह कथन इस ओर इंगित करता है कि जहाँ अन्य दर्शनो में राग-द्वेश से युक्त प्रत्येक क्रिया को कर्म मानकर उसके संस्कार को स्थाई मानते हैं–वहां जैन दर्शन में रागद्वेषों से युक्त जीव की मन वचन और काया की क्रिया के साथ एक द्रव्य जीव में आता है जो उसके राग–द्वेष रूप भावों का निमित्त पाकर जीव से बंध जाता है और आगे चलकर अच्छा या बुरा फल देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म और अन्य धर्मों विशेष कर वैदिक दर्शन में कर्म वे। यद्यपि व्यक्ति के कार्यकलापों एवं तन्जन्य परिणामों को लेकर मूलभूत अंतर है। वैदिक दर्शन में ईश्वर को जगत का कर्ता व नियन्ता माना गया है। वहां जीव यद्यपि कर्म करने में स्वतंत्र है पर, परिणाम या दाता या फलभोक्ता वह स्वंय नहीं। कर्म का फल ईश्वर देता है। कृत कर्मों के अनुसार अच्छा या बुरा फल ईश्वर ही प्रदान करता है। जैनदर्शन ऐसा नहीं मानता। वह कर्ता की स्वतंत्रता एव स्वयं भोक्ता की सत्ता का स्वीकार करता है। अर्थात जो कर्म करता है वही स्वयं उसके परिणाम को भोगता है। यहां भी अच्छे कर्म का सद और बुरे कर्म का असद प्रभाव भोगना स्वीकार किया है। पर, स्वीकृति किसी द्वारा निर्णित नहीं है बल्कि आत्मा से संबद्ध कर्म-परमाणु अच्छा या बुरा प्रभाव डालकर वैसा ही फल या परिणाम प्रस्तुत करते हैं। "जैसा बोओगे वैसा काटोगे" का सिद्धांत स्वयं स्पष्ट होता है।

'जैसा बोओगे वैसा काटोगे' के अनुसार फल भोगना निश्चित है तो व्यक्ति को चाहिए कि उसे जो भी सुख-दुःख आवें उन्हें समता भाव से भोगना चाहिए। यदि कर्मोदय से उत्पन्न सुख-दुःख को तटस्थभाव से भोगा जाये तो नए कर्म नहीं बंधेंगे अन्यथा क्लेश और भौतिक आनन्द में बह कर पुराने कर्म तो भोगेंगे ही नए भी बंधते रहेंगे। परिणाम स्वरुप हम कभी कर्मों के चक्कर से छूट नहीं सकेंगे। इसीलिए मुमुक्षु इन उदित कर्मों के प्रति उदासीन या तटस्थ रहता है जब कि संसारी जीव या राग-द्वेष से लिप्त जीव उसमें दुखी या सुखी होने के भाव में बह कर नये कर्मों का ही आस्रव करता हैं। यों कहा जा सकता है कि भोग में हम विकारी न बने व अभाव में तृष्णावृति वाले न बनें। यदि व्यक्ति उपलब्ध भोग सामग्री के समय संयम का अंकुश लगाकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके प्रति अनासक्त बनेगा तो कर्मभाव उससे कभी नहीं जुड़ सकते। पर, जरा भी ढील होगी तो हम लिपट जायेंगे। इन्द्रियों के असंयम के कारण हम दुखी हों और दोष कर्मों को दें यह भी बराबर नहीं। कभी-कभी हम अपने दोषों को या असंयम को ढांकने के लिए कर्मों को दोष देकर छूटना चाहते हैं या कुछ संतोष प्राप्त करते हैं।

कर्म का पर्यायवाची जबसे भाग्य बन गया तबसे बड़ी अराजकता व्याप्त हुई है। निष्क्रिय, आलसी और सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त लोग इस भाग्य या कर्म की दुहाई देते हैं।

ज्ञानावरण कर्म जीवके ज्ञान गुण का घात करता है। अर्थात जीव के ज्ञान गुण पर दूषित आवरण छा देता है। जब ज्ञानी का अनादर, उनके प्रति प्रतिकूल आचरण-द्वेषभाव, कृतघ्नवर्तीव, ज्ञान-दात्री पुस्तकों-शास्त्रों का अपमान, ज्ञानदान में प्रमाद व द्वेषबुद्धि आदि कार्य करने वाले जीव को ज्ञानावरण कर्म का बंध होता है। इसी प्रकार दर्शनवान या दर्शन के साधनों के साथ उपरोक्त रूप से कुव्यवहार आदि कृत्य करने से दर्शनावरण कर्मका बंध होता है। उत्तम वैराग्य प्रेरित दर्शनीय मूर्ति आदि के प्रति उपेक्षा या अनादर का भाव इसमें समाहित होता है।

वेदनीय अर्थात वेदना प्रदान करानेवाले। सुख-दुःख का वेदन या अनुभव इस से होता है। यह वेदनीय दो प्रकार की है (अ) सातावेदनीय (द) असातावेदनीय। अनुकंपा, सेवा, क्षमा, दया आदि से सुखात्मक संतोष दायी अर्थात सातावेदनीय कर्म का बंध होता है। जबकि उसके विपरीत वर्तन से असातावेदनीय कर्म का बंध होता है। इससे स्वयं दुःखी रहते है। जैन धर्म साता या संतोषदायी को भी बंध कहनेकी बात कर सकता है। अन्ततो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया तो सुख भी बंधन ही है—चाहे सोने की जंजीर से ही क्यों न हो ।

मोहनीय कर्म निरंतर जीव को मोहित किए रहता है । जीव मोह जाल से मुक्त नहीं हो पाता । इसके भी (अ) दर्शन मोहनीय (ब) चारित्र मोहनीय दो भेद हैं । असत् मार्ग का उपदेश, सन्त साधु—सज्जनों तथा कल्याण—साधना को और प्रतिकूल वर्ताव की ओर प्रेरित करनेवाले कार्य दर्शन मोहनीय का बंध कहते हैं । जबकि कषायोदयजनित तीव्र अशुभ परिणाम से सच्चे मार्ग को जानने के बाद भी उस पर आरूढ नहीं होने देना—वह चारित्र मोहनीय कर्म का बंध करता है ।

आयुकर्म बंध से जीव को विविध शरीर में निश्चित समय तक रुके रहना पड़ता है । इसका छिदना ही मृत्यु है । महारंभ, महा-परिग्रह, पंचेन्द्रियवध एवं रौद्र परिणाम से नरक आयु का बंध होता है । मायाचारी आदि के कारण तिर्यंच (पशु) आयु बांधती है । अल्प आरंभ, परिग्रह एवं ऋजुता मृदुता के गुणों से मनुष्य आयु का बंध होता है जबकि संयम मध्यम कक्षा का संयम, बालतपस्या आदि के कारण देवायु का बंध होता है । इस प्रकार नरक, पशु, मनुष्य और देव चार प्रकार के आयुकर्म का बंध होता हैं ।

नाम कर्म के कारण अच्छे या बुरे शरीर और अंग—उपांग की रचना होती हैं । ये नाम कर्म भी शुभ और अशुभ दो प्रकार के है। नामकर्म की दृष्टिसे ।

हर व्यक्ति अपने कर्मों का फल भोगता है । इस सिद्धांत का स्वीकार करते हुए भी हम जीवन में सदैव तटस्थ नहीं रह सकते । उदा. किसी को कोई मारे कोई भूखे मरे, कोई मोटर से कुचला जाये—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसे समय कर्मयोग से हुआ है-कहकर यदि हम कमजोर का रक्षण न करें, भूखे को भोजन न दें या बिमारी की सेवा-मदद न करें तो हम जड़, दुष्ट माने जायेंगे। व्यक्ति अपने परिणामों को भोग रहा रहा हो, पर, समय पर उसकी सहायता करना भी क धर्म हैं। विवेक से हमें निर्णय लेना चाहिए।

* * *

जैनदर्शन इस कर्म के संबंध में स्पष्ट है। जैनदर्शन की दृष्टि से जीव की क्रिया-प्रवृत्ति द्वारा कर्मवर्गणा * १ के पुद्गल जीव की ओर खिंचकर उससे चिपक जाते हैं उन पुद्गलों को कर्म कहा गया है। कर्मवर्गणा के पुद्गल लोकाकाश में सर्वत्र व्याप्त है। पर, वे जीव की क्रिया प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट हो कर जीव से संबद्ध या चिपकते हैं तभी कर्मसंज्ञा से अभिहीत होते हैं। इस प्रकार जीव बंध कार्मिक पुद्गलों को द्रव्यकर्म कहा गया है। जीव के राग द्वेषात्मक परिणाम को भाव कर्म कहा गया है।

आत्मपरीक्षा में कहा गया है-"जीव के जो द्रव्य कर्म हैं वे पौद्गलिक हैं और उनके भेद अनेक है। तथा जो भावकर्म हैं वे आत्मा के चैतन्य परिणात्मक हैं क्योंकि आत्मा से कथंचित अभिन्नरूप से स्वभेद्य प्रतीत होते हैं और वे क्रोधादि रूप हैं।"

द्रव्यकर्म और भावकर्म पारस्परिक रुप से कारणभूत होते हैं।

कर्म का आगमन : जैसा कि कह चुके हैं कि जैनदर्शन में कर्म अर्थात् कर्मपरमाणुओं (कर्मवर्गणा) की जीव की क्रिया के अनुसार उनसे संलग्न होना है। इस खिचाव चिपकाव संलग्नता

---

* १ कर्मवर्गणा पुद्गल द्रव्य की २३ प्रकार की वर्गणाओं में से एक हैं जो संसार में व्याप्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का कार्य मन–वाणी और शरीर की क्रिया से होते हैं जिन्हें 'योग' (जुड़ना) कहते हैं। यह राग–द्वेषात्मक होते हैं। यही आस्रव है। इन आस्रवों का आत्मा के साथ जुड़ने का कार्य मिथ्यात्व, अवरति प्रमाद और कषाय कहते हैं-इस दृष्टि से ये बन्ध के हेतु भी कहे जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जीव की योग्य शक्ति एवं कषाय ही बंध के कारण हैं। तत्वार्थसूत्र में कहा है–"मिथ्यादर्शनाविरति प्रमादकषाययोग बन्ध हेतवः। (अ–८ सूत्र–१) इसी प्रकार "कायवांमनः कर्मयोगः। स आस्रवः॥ (अ.ध. सू १-२)कहकर 'योग' को कर्मबंध का कारण एवं आस्रव कहा हैं। कषाय के क्षय या नाश हो जाने पर योग के रहने तक जीव में कर्मपरमाणुओं का आस्रव होता तो है किन्तु कषाय के अभाव में वे ठहर नहीं सकते। जैसे हवासे उड़ती हुई धूल किसी दीवार या स्थान पर पडती है और यदि वह जगह तैली-पदार्थ ता गोंद युक्त हैं तो वह धूल उस से चिपक जाती है। यदि दीवार या स्थान साफ, चिकनी या सूखी है तो धूल तुरंत स्वयं झड जाती है। इसी प्रकार मनोवाक्काय प्रवृत्तिरुप 'योग' रुपी हवा से कार्मिक पुद्गल जीव की दीवार पर पडते हैं और वहां कषायरुपी तेल या गोंद के संपर्क में आकर चिपक जाते हैं। यदि वहां कषाय का अभाव होगा तो यह आस्रव की धूल आकर भी झड जायेगी।

इन कर्मों का रुकना या झडना उन्हें रोकने या चिपकाये रखनेवाले पदार्थ पर भीनिर्भर रहता है। यही बात योग और कषाय के संबन्ध में कही जा सकती है कि योगशक्ति जिस दर्जे की होगी, आगत कर्मपरमाणु भी उसके अनुसार कम या अधिक होंगे और कषाय की तीव्रता और मंदता के अनुसार वे वैसे रहेंगे। योग और कषाय से जीव के सूक्ष्म कर्मपुदगलों का बंध होता है। ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये चार प्रकार के हैं-प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबंध और अनुभागबन्ध । बन्ध को प्राप्त होने वाले कर्म परमाणुओं में अनेक प्रकार का स्वभाव पड़ना प्रकृतिबन्ध है, उनकी संख्या का नियत होना प्रदेशबन्ध है। उनमें काल की मर्यादा का होना स्थितिबंध है। उनमें फल देने की शक्ति का पड़ना अनुभागबंध है। (जैनधर्म पृ. १४९ से उधृत)

एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव मूलस्वरूप में अमूर्त होने से मूर्तरूप पुद्गल उससे कैसे बंध सकते हैं ? परंतु यह अमूर्तजीव अनादि काल से एक प्रकार की राग-द्वेष-वासना, जो उसके शुद्ध स्वरुप से सर्वथा असंगत होते भी निरंतर पुद्गलों से घिरा होने से मूर्त सा बन गया है। अर्थात संसारी जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मों से बँधा होने के कारण एक तरह से मूर्तिक हो रहा है।

कर्म के प्रकार : मूलतः कर्मों के ८ भेद माने गये हैं। इन्हें प्रकृति बंध का भेद भी माना गया है। सरल भाषा में यों कहा जा सकता है कि भाव एवं क्रिया से जिस प्रकार के कर्म बाँधते हैं वे ही प्रकृति याने स्वभावबन्ध हैं। ये आठ इस प्रकार-हैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय। भाग्यकी बात सामने रखकर छूट जाना चाहते हैं। अरे! नहीं पढनेवाला विद्यार्थी फैल होगा ही। क्या उसें कर्म का आश्रय लेकर बचने की छूट होगी ? निरूद्यमी क्या सफलता प्राप्त कर पायेगा ? क्या दहेज के अभाव में लडकियों की अवदशा भाग्य का कारण कहकर बचाव किया जा सकेगा ? "कर्म में ऐसा लिखा है"-या "हमारे कर्मों का उदय ही ऐसा है" कहकर छुटकारा नहीं पाया जा सकता। वर्तमान शोषक और शोषितों का विस्तार इसी अंध मान्यता के कारण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मार्क्स और लेनिन ने इस शोषण के कारण, शोषणकर्ताओं का फैलाया कर्मजाल तोड़कर यह सिद्ध किया कि अमीरी-गरीबी का कारण मात्र भाग्य या कर्म नहीं। सत्य तो यह है कि कर्म के सिद्धांत का हमने अपनी सुविधा अपने बचाव और अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए किया है। "परिणाम भगवान देगा" की नीति भी भाग्यवादी बनाता है।

यह निर्विवाद मान्य सत्य है कि शुभ या अशुभ पूर्व कर्मों समय पर परिपाक होने से उदय होता है-पर, इसका यह मतलब भी नहीं कि हम निष्क्रिय बैठें। हमें एक बहादुर की तरह उसके परिणामों को हंसकर अर्थात् तटस्थ होकर सहन करना चाहिए। यदि हम तटस्थभाव को धारण कर सकेंगे तो कर्म का वेग स्वयं कमजोर पड़ेगा। आवश्यकता पड़ने पर उसका प्रतिकार भी करना होगा। उदा. रास्ते में चोर लूटना चाहे तो बचाव करना होगा। रोग होने पर दवा लेनी होगी। धैर्य धारण करना होगा।

कर्म जहाँ कार्य का प्रतीक हो वहां हमारे कार्य व्यावहारिक दृष्टि से ऐसे हों जो घर परिवार और समाज के लिए उपयोगी हो। सद्गुण युक्त हों। धार्मिक भाषा में कहें तो वे शुभबंध के कारण हों। हमारे पाप पूर्ण कर्म हमें क्लेश करायेंगे। अन्य को परेशान करनेवाले एवं अराजकता पैदा करनेवाले होंगे। हमें अशुभ कर्मों से बचना चाहिए। यद्यपि निश्चयरूप से मुक्तअवस्था का पथिक इन भौतिक शुभाशुभ कर्मबंध से बचता है। वह शरीर से हटकर आत्मा के साथ जुडे कर्मों के निरंतर क्षय का प्रयास करता है। इसके लिए पाप और पुण्य दोनों बेडिया हैं।

हम मानते हैं कि गूढ़वृत्तियों को हम नहीं जानते। पर, इतना तो हमारे हाथ में है की हम अविवेक से गलत कार्य करके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पापकर्म का बोझ स्वयं पर न बढ़ावें । जीवन जीने के लिए कर्म या कार्यरत रहना आवश्यक है । ध्यान इतना ही रखना है कि जिन कार्यों के बगैर चल रहा न सके उन्हें अवश्य करें । पर भोग विनोद या द्वेष भाव से अनावश्यक कार्य न करें ।

नाम कर्म मनुष्य की शरीर रचना से है । ऋजुता मृदुता सच्चाई या मेल मिलाप करने के प्रयत्न एवं सौजन्य भाव से शुभ नाम कर्म बाँधते हैं जबकी कुटिलता, ठगविद्या, धोखेबाजी क्रूर कर्म से अशुभ नामकर्म बँधते हैं। इन्ही शुभाशुभ से सुन्दर, सुडौल या बेडोल शरिर प्राप्त होता है ।

गोत्रकर्म से इस जीव को उच्च या नीच कुल की प्राप्ति होती है । गुण ग्राहीपना, निरभिमान, विनयी गुणों से उच्चकुल एवं परनिंदा, द्वेषभाव, अभिमान आदि से नीचकुल प्राप्त होता है ।

अन्तराय कर्म के कारण इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति में रुकावट पदा होती है । जब किसी को दान आदि उत्तम कार्यों से रोका जावे, किसी की प्रगति में बाधा बना जाय तब उसे कर्म का बंध होता है ।

ऊपर के विवेचन को यों रखा जा सकता है हमारी शुभ या अशुभ क्रियाओं से अच्छे या बुरे कर्म बंधते हैं और तदनुरूप ही उदय में आने पर हमें उनके परिणाम भोगने पड़ते हैं ।

इन आठ कर्मों में प्रथम चार घातिया एवं अन्य चार अघातिया कर्म कहे जाते हैं ।

घातिया कर्म जीव के स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शेष चार अघातिया कर्म गुणों का घात नहीं करते। इसे इस चित्र से समझें।

कर्म के भेद–

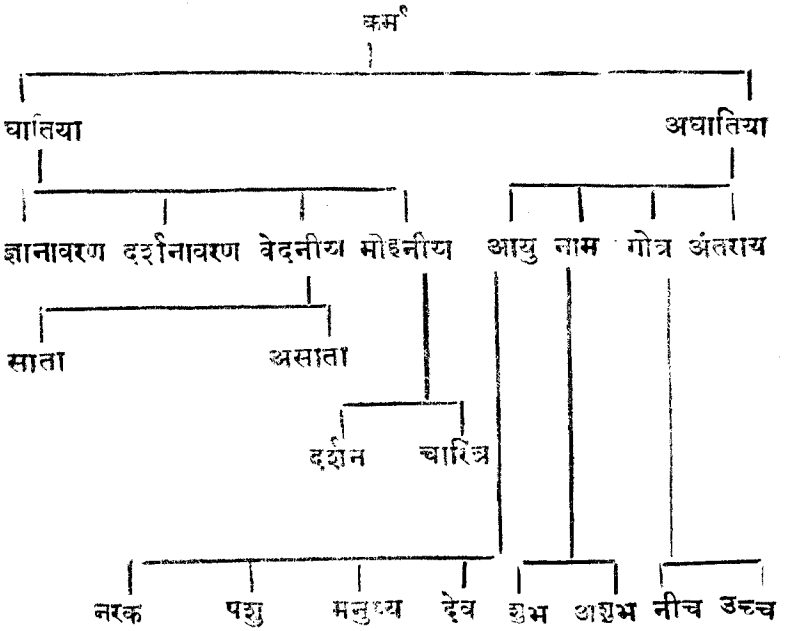

इन भेदों के उपरांत सूक्ष्मसूचक शास्त्रकारोंने ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस आयु के चार, नाम के तिरानवे गोत्र के दो एवं अंतराय के पांच भेद माने हैं।

घाती कर्म के भी (१) सर्वघाती (२) देशघाती भेद किए है। जो कर्म–जीव के गुणों का पूर्णरुपेण घात करता है वह सर्वघाती है और जो देश या अंशरूप से घात करता है वह देशघात कहलाता हैं। इन चार घाती कर्मों के ४७ भेद किए हैं जिनमें २६ देशघाती और २१ सर्वघाती माने गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊपर किऐ गये विवेचन यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के कृत्य जो ऐक द्रव्यभूत वस्तु हैं -विशेष संयोग के कारण आत्मा से जुड़कर उसे दूषित करते हैं और तदनरूप वह सुख-दुःख आदि पाता है। इससे यह समझना होगा कि हम मनुष्य हैं। सर्वश्रेष्ठ प्राणी के रूप में हमारी संरचना हुई है। बुद्धि का वरदान हमें विवेक-ज्ञान प्रदान करता है। सत् असत् का भेद हम कर सकते हैं-अतः इस ज्ञान के द्वारा अशुभ कर्मों के आस्रव से निरंतर बचने का प्रयास करें। हम बुद्धि की शुद्धि के साथ सत्कर्मपरायण बनकर आत्मकल्याण की ओर आरुढ़ हों ऐसा निरंतर प्रयास करना चाहिए। ये कर्म ठीक उस बीज की भाँति हैं जो तत्काल न उगकर समय, परिस्थित एवं वातावरण के संसर्ग में पनपते हैं-वैसे ही कर्म भी अपना फल देते हैं। यही कारण है की कभी-कभी पाप करने वाला हमें सुखी दिखाई देता है और पुण्य-प्रवृति में लगा हुआ व्यक्ति हमें दुखी दिखाई देता है। कारण कि वर्तमान पापबंध करते हुए भी वह अपने संचित पुण्य कर्मों के उदय (फल) के कारण दुख पाता है दूसरा ठीक उससे विपरीत फल पाता है। एक बात निश्चित समझनी होगी कि प्रत्येक कर्म जो बँधा है वह उदय में आकर परिणाम देगा ही-उसका क्षय भी निश्चित है। कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं जो उदय में आकर भी फल दिए बिना नष्ट हो जाते हैं ऐसे उदय को 'प्रदेशोदय' कहा गया है। यह होना तभी संभव है जब साधक अपने तप के बल से उनकी निर्जरा करे। ताकि कर्म नष्ट हो जाये-फल हीन बन जाये। ऐसे कर्मों की निर्जरा ही मोक्ष मार्ग की ओर ले जातीं है।

कर्म की अवस्थायें : कर्म के इस दर्शन को जैनधर्म में बड़ी सूक्ष्मता से, गहराइ से एवं कसौटी पर कसकर देखा गया है। सामान्य व्यक्ति जिज्ञासु, मुमुक्षु सभी इसे जान सकें इस हेतु प्रथम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्यरूप से सरल ढंग से कर्म, उसका उदय और फल आदि की चर्चा की। अब विशेष गहराई से चिंतन करते हुए कर्म की अवस्थाओं चर्चा की प्रस्तुत करेंगे।

जैन सिद्धांत की दृष्टि से कर्म की होनेवाली दस क्रियायों या दस अवस्थाओं के नाम से जाना गया है। इन्हें 'करण' कहते हैं। करण अर्थात परिणाम (धवला) भगवती आराधना में करण शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इन्द्रियां ही करण हैं–"क्योंकि इनके द्वारा रूपादि पदार्थों को ग्रहण करने वाले ज्ञान किये जाते हैं इसलिए इन्द्रियों को करण कहते हैं। (१) बन्ध (२) उत्कर्षण (३) अपकर्षण (४) सत्ता (५) उदय (६) उदीरणा (७) संक्रमण (८) उपशम (९) निधति (१०) निकाचना।

(१) बंध : कर्मयोग्य वर्गणा के पुद्गलों के साथ आत्मा या जीव का संबंध होना बंध है। ये पुद्गल आत्मा के साथ क्षीर–नीर की भांति जुड़ जाते हैं। ये सूक्ष्म कर्म पुद्गल आत्मा समग्र प्रदेश द्वारा ग्रहण होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का मानसिक– वाचिक या शारीरिक योग (क्रिया–व्यापार) समान न होने से कर्मबंध सबके एक से नहीं होते। इसीलिए योग के अनुसार तरतमभाव होते हैं। बन्ध के प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध एवं प्रदेशबंध एसे चार बंधो का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

(२–३) उत्कर्षण एवं अपकर्षण : कर्म की स्थिति और अनुभाग की वृद्धि उत्कर्षण है और उनकी घटना अपकर्षण है। अशुभ कर्मों के बंधने के पश्चात जब जीव शुभ कर्म–प्रवृति करता है तब उसके पहले बंधे हुए बुरे या अशुभ कर्मों की स्थिति और फलदान शक्ति घटने लगती है। इसके विपरीत यदि बुरे कर्मों को बाँधने के बाद भी अन्यबुरे कर्मों को बांधके अधिक कलुषित भाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बनता है तब निरंतर बुरे या अशुभ कर्मों की ओर प्रवृत्त होने लगता हैं। परिणामतः कर्मों की स्थिति और फलदान शक्ति और भी बढ़ जाती है। इन दोनों के कारण ही किसी कर्म का फल शुद्ध, किसी का देर से एवं किसी का तीव्र या किसी का मंद फल प्राप्त होता है। इससे इतना स्पष्ट होता है कि मोह या प्रमादवश किए गये घोर अशुभ कर्म जो कि नर्कगति में ले जाने वाले हों-उन्हें भी जागृति प्राप्तकर घटाया या नष्ट किया जा सकता है। घोर पापी भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। शर्त इतनी ही है कि उसकी सुप्त-प्रमादी आत्मा जागृत बने। जागृति के आत्मबल द्वारा कषाय आदि के शक्तिशाली मातंग पर भी अंकुश लगाया जा सकता है।

(४) सत्ता : आबद्ध कर्म तुरंत अपना फल नहीं देते। अपितु कुछ समय के पश्चात् अपना फल देते हैं। जैसे शराब का नशा कुछ समय बाद ही चढ़ता है या बीज कुछ काल बाद ही पनपता है। इस कालावधि को "आबाधकाल" कहा गया है। आबाधाकाल भी कर्म की स्थिति के अनुसार होता है। जैन परिभाषा में कहें तो "एक कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति में सौ वर्ष अबाधकाल होता है" अर्थात यदि किसी कर्म की स्थिति एक कोड़ा कोड़ी सागर बांधी है तो वह कर्म सौ वर्ष बाद फल देना प्रारंभ करता है और तब तक देता है जब तक उसकी स्थिति पूरी न हो। तात्पर्य कि कर्म का जीव के साथ रहना ही सत्ता का परिचायक है।

(५) उदय : सत्ता के अन्तर्गत कर्म का जीव के साथ रहना होता है जबकि उदय के अन्तर्गत वह कर्म फल देने लगता है। अर्थात कर्म उदय में आने लगता है। यह फलोदय एवं प्रदेशोदय दो प्रकार का है। जब कर्म फल देकर नष्ट होते हैं, उसे फलोदय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं जब कर्म फल दिए बिना ही नष्ट हो जाते हैं उसे प्रदेशोदय कहते हैं ।

(६) **उदीरणा** : 'आबाधकाल' पूर्ण होने पर उदित कर्म का नियत कालानुसार क्रमिक उदय होना उदय है । पर, समय से पूर्व कर्म का विपाक हो जाना उदीरणा है । उदाहरणार्थ-आम को समय से पूर्व पकने के लिए डाल से तोड़ कर भूसे या घास में दबाकर रखा जाता है । इस प्रकार वह समय से पूर्व जल्दी पक जाता है इसी प्रकार कर्म की भी अपकर्षण करण के द्वारा स्थिति घट जाती है । स्थिति के घटने से कर्म नियत समय से पूर्व उदय में आते हैं । यह समय से पूर्व का कर्मोदय ही उदीरणा है । जैसे किसी की असमय मृत्यु को हम अकाल मृत्यु कहते हैं । हकीकत में यह आयुकर्म की उदीरणा ही है ।

(७) **संक्रमण** : एक कर्म प्रकृतिका अन्य सजातीय कर्म रुप में हो जाने को संक्रमण क्रिया या संक्रमण करण कहा गया है । ध्यान रहे कि संक्रमण कर्म के मूल भेदों में नहीं होता अर्थात मूलकर्म अन्य कर्मो में परिवर्तित नहीं हो सकते । यह संक्रमण मात्र कर्मो के अवान्तर भेदों में ही होता है । जैसे ज्ञानावरणी कर्म दर्शनावरणी में संक्रमण नहीं करेगा परतु वेदनीय कर्म के सात वेदनीय कर्म असातवेदनीय या सातवेदनीय में संक्रमण कर सकता है यद्यपि इसमें भी एक अपवाद है जैसे आयु कर्म के चार प्रकारों में परस्पर संक्रमण भी नहीं होता । जैसे, नकरगति की आयु से आबद्ध जीव को नकरगति में ही जाना पड़ेगा । इसी प्रकार मोहनीय कर्म के अवान्तर भेद दर्शन मोहनीय और चारित्र्य मोहनीय कर्म परस्पर संक्रमित नहीं हो सकते ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(८) **उपशम :** उपशम अर्थात् कर्म को उपशांत करना । उदित कर्म को भस्माच्छन्न अग्नि की तरह दबा देना—उपशमना है । उपशमन अवस्था में उदय-उदीरणा नहीं होता । साथ ही संक्रमण, आकर्षण या अपकर्षण एवं निधत्ति निकाचन नहीं होता । ये सब सर्वोपशमना कर्म संबद्ध से हैं । सरल शब्दों में कहें तो कर्म को उदय में आ सकने के अयोग्य बना देता है ।

(९) **निधत्ति :** कर्म की यह ऐसी सख्त अवस्था है कि जिसमें कर्म का संक्रमण और उदीरणा नहीं हो सकती । परंतु कर्म का उत्कर्ष या अपकर्षण हो सकता है ।

(१०) **निकाचना :** यह कर्मबंध की सर्वाधिक कठिन या सख्त अवस्था है जहाँ उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण या अपकर्षण किसी भी क्रिया नहीं चल सकती । इसमें उदित कर्म को प्रायः भोगना ही पड़ता है ।

कर्म के इस सिद्धांत को समझ लेने पर हम इतना जान ही सकते हैं कि व्यक्ति अपने किए हुए कर्मों का फल स्वयं भोगता है । ये कर्म ही उसे जन्म जन्मांतर भटकाते हैं । इनसे छूटने पर या मुक्त होने पर ही मोक्ष या अजरामपने का सुख प्राप्त हो सकता है ।

समाजकी व्यवस्था के लिए भी सत्कर्म आवश्यक हैं । बुरे कर्मों के परिणाम, बुरे कपटदायी एवं आत्मघातक होते हैं ।ऐसा ज्ञान जिसे जागृत हो जाये वह गलत कार्य, अन्यको दुःखी करने वाले कर्मों से बचेगा । कषायों से बचेगा । पुण्य बंध द्वारा उत्तम गति प्राप्त करेगा । एक दिन इन कर्मों से संपूर्ण मुक्त बनकर 'मुक्तात्मा बन सकेगा ।

ध्यान रहे कि हम जो कर्म करेंगे उसका फल भी हमें ही भोगना है । उन्हीं के अनुसार शरीर, बुद्धि, शक्ति, सम्पति सुख-दुःख प्राप्त होंगे ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्ततत्त्व मीमांसा

तत्त्वों की मीमांसा करने से पूर्व तत्त्व शब्द को समझना चाहिए। सर्वार्थ सिद्धि में वस्तु के निज स्वरूप को ही तत्त्व कहा गया है। "जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्त्व है।" इसी प्रकार का अर्थ बोध राजवार्तिक एवं समाधि शतक टीका में भी व्यक्त हुआ है। पंचाध्यायी पूर्वार्ध में इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है-'तत्त्व का लक्षण सत है।' अथवा सत ही तत्त्व है जिस कारण से कि वह स्वभाव से ही सिद्ध है, इसलिए वह अनादि निधन है, वह स्वसहाय है और निर्विकल्प है। धवला में इसे श्रुतज्ञान का लक्षण माना है। तत्वार्थ के संदर्भ में ही यह स्पष्ट कहा गया है कि 'अर्थ' माने जो जाना जाये।' तत्त्वार्थ माने जो पदार्थ जिस रुप से स्थित है उसका उसी रूप में ग्रहण। (राज वार्तिक) निश्चयनय से आत्मा को ही सच्चा तत्व कहा गया है। तत्त्वार्थ सूत्र में तो उमास्वामीजीने तत्वों पर श्रद्धा करने वाले को सम्यग्दृष्टि कहा है। सरल ढंग से यों रखा जा है कि संसार में जन्म-मरण के दुखों को झेलने वाला प्राणी यदि इन दुखों से छुटकारा पाना चाहता है तो उसे इन तत्वों को समझना होगा। जीवन में चारित्र्य रुप धारण करना होगा। जीव की मोक्ष तक का यात्रा के विविध सोपानों (आयामों) के रूप में इन तत्वों को प्रस्तुत किया जा सकता है।

हम पिछले प्रकरण में कर्म की विशद व्याख्या एवं कर्म बंधन आदि की चर्चा कर चुके हैं। इन कर्मों के बंधनों से छूटकर उत्तम सुख में जो प्रस्थापित करे वही धर्म है। जीव स्वयं कर्मों को बाँधता हैं-उन्हीं मे उसे स्वयं ही छूटना भी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन की विशेषता है कि वह किसी भी वस्तु को जाने समझे बिना अपनाने को नहीं कहता। 'पहले जानो तब मानों' का स्पष्ट सिद्धांत वहां लागू होता है। इन तत्वों के आधार पर हम वस्तुके स्वरुप, उनकी पहचान करते हैं। बंधे कर्मों को छोड़ने का उपाय ढूंढते हैं। नयों के आगमन को रोकते हैं। बद्ध कर्मों को नष्ट कर 'मुक्त' बनने का प्रयास करते हैं। जीवन का योगक्षेम इन्हीं पर निर्भर माना गया है। इन तत्वों को सात एवं नव भागों में विभाजित किया गया है-(१) जीव (२)अजीव(३)आस्रव(४)बंध (५)संवर(६)निर्जरा(७)मोक्ष। नव तत्व मानने वालों ने पुण्य और पाप इन दोनों को पृथक तत्व माना है। जब कि सात तत्व मानने वालों ने पाप और पुण्य की गणना आस्रव और बंध के अन्तर्गत की है।

समयसार में इन सप्त तत्त्वो में केवल जीव व अजीव की ही प्रधानता मानी है। पंचाध्यायी में कहा है। "ये नव तत्त्व केवल जीव और पुद्गल रूप हैं, क्योंकि वास्तव में अपने द्रव्य क्षेत्रादिक के द्वारा कर्ता तथा कर्म में है अनन्यत्व नहीं है। प्रायः सभी आचार्यों ने माना है कि जीव और पुद्गल के संयोग से बने हुए सप्त पदार्थ घटित होते है। या परस्पर में संबंध को प्राप्त उन दोनों जीव ओर पुद्गल के ही निमित्त नैमिमिक संबंध से होने वाले भाव ये नव पदार्थ हैं।

इन तत्त्वों का जो क्रम निर्धारित किया गया है उसका कारण प्रस्तुत करते हुए आचार्य सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं-'सब फल जीव को मिलता है। अतः सूत्र के प्रारंभ में जीव का ग्रहण किया है। अजीव जीव का उपकारी है यह दिखलाने के लिए जीव के बाद अजीव का कथन किया है। आस्रव जीव और अजीव दोनों को विषय करता है अतः इन दोनों के बाद आस्रव का ग्रहण किया है। बंध आस्रव पूर्वक होता है, इसलिए आस्रव के बाद बन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का कथन किया है। संवर के होने पर निर्जरा होती है। मोक्ष अंत में होता है। इसलिए उसका अंत में कथन किया है। अथवा क्योंकि यहाँ मोक्ष का प्रकरण है इसलिए उसका कथन करना आवश्यक है। वह संसारपूर्वक होता है और संसार के प्रधान कारण आस्रव और बंध हैं तथा मोक्ष के प्रधान कारण संवर और निर्जरा हैं। अत प्रधान हेतु हेतुवाले और उनके फल के दिखलाने के लिए अलग-अलग उपदेश किया है। (जैन सि. को. पृ. ३५३-५४) संक्षिप्त में इन तत्वों को समझें।

जीवतत्व :

संसार या मोक्ष दोनों में जीव प्रधान तत्व है। यद्यपि ज्ञान दर्शन स्वभावी होने के कारण वह आत्मा ही है फिर भी संसारी दशा में प्राण धारण करने से जीव कहलाता है। वह अनन्तगुणों का स्वामी एक प्रकाशात्मक अमूर्तिक सत्ताधारी पदार्थ है। कल्पना मात्र नहीं है नहीं पंचभूतों के मिश्रण से उत्पन्न होने वाला कोई संयोगी पदार्थ है।...कोई एक ही सर्वव्यापक जीव भी हो ऐसा जैन दर्शन नहीं मानता। वे एनंतानंत हैं। उनमें से जोभी साधना विशेष के द्वारा कर्मों व संस्कारों का क्षय कर देता है वह सदा अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता परमात्मा बन जाता है।...जैन दर्शन में उसी को ईश्वर या भगवान स्वीकार किया है। (जै सि. को. पृ. ३३०) जीव के स्वरुप को लेकर अनेक आचार्यों ने व्याख्या यें प्रस्तुत की हैं जिनका सार रुप कथन यही है कि जो चार प्राणों से जीता है, जियेगा और पहले जीता था वह जीव है। यह जीव रस, रुप, गंध रहित, इन्द्रियों से अगोचर, चेतना गुण वाला, शब्द रहित एवं आकार रहित होता है। उपयोग और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चेतना इसके लक्षण माने गये हैं। भावपाहुड में कहा है जीव कर्ता है, भोक्ता है, अमूर्तीक है शरीर प्रमाण है, अनादि निधन है, दर्शनज्ञान उपयोगमयी है ऐसा जिनवरेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट है।

इस संक्षिप्त व्याख्या से इतना स्पष्ट हुआ कि जिसमें चेतना गुण है वही जीव है जो पुद्गल या अजीव से पृथक है। पुद्गल जहाँ इन्द्रियों के अनुरुप रुप, रस गंध एवं स्पर्श गुणवाला होता है वहां जीव ऐसा नहीं होता। चेतना का मुख्य लक्षण होने से जीव जानने और देखने की शक्ति रखता है। यह जीव आत्म-स्वरूप को ग्रहण करके दर्शनस्वरुपी एवं बाह्य पदार्थों को ग्रहण करके ज्ञानस्वरुपी कहलाता है। ज्ञानरुपी होना जीव का मुख्य लक्षण है। यद्यपि एकेन्द्रिय जीव से लेकर मुक्तात्माओं तक जीव में हीनाधिक ज्ञान पाया जाता है।

यद्यपि अन्य पदार्थों की भाँति जीव प्रत्यक्ष दृष्टा नही तथापि वह स्वानुभव प्रमाण से ही जाना जा सकता है। यह जीव इन्द्रियों के माध्यम से रूप रस आदि का ज्ञान या संवेदन प्राप्त करने के बावजूद उससे नितांत पृथक है। जैसे चक्कू से वस्तु कटती है। पर चक्कू और वस्तु भिन्न हैं। इन्द्रियाँ आदि आत्मा को ज्ञान प्राप्त कराने में साधन भूत हो सकती हैं पर वे स्वयं चैतन्य स्वरुप आत्मा नही हो सकती। इस आत्मा या जीव का कोई रंग नहीं है। चर्मचक्षु से देखा भी नहीं जा सकता परंतु अनुमान और प्रमाण से उसका स्वीकार किया जाता है। संसार में विविध प्रकार के लोग उनकी शारीरिक आदि भिन्नता का अवश्य कारण होता है। वह कारण है कर्म का प्रभाव। (पिछले प्रकरण में इसकी चर्चा हो चुकी है) धर्म की सत्ता के संदर्भ में यह आत्मा स्वतः सिद्ध हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव, कर्मों को भोगते समय जो भाव करता है उसका वह स्वयं कर्ता माना जाता है । ये भाव पाँच प्रकार के माने गए हैं । औपशमिक, क्षायिक, औदयिक क्षायोपशमिक और पारिणामिक । जब कर्मों को उदय में न आ सकने योग्य बना दिया जाता है । तब वे औपशमिक भाव कहे जाते हैं । कर्मों का क्षय होने पर क्षायिक भाव एवं जब कुछ कर्मों का क्षय व कुछ का उपशम होता है तब उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहा जाता है ।

कर्मों के उदय से होने वाले भाव औदयिक भाव कहलाते हैं और कर्मों के निमित्त के बिना जो भाव होते हैं उन्हें पारिणामिक भाव कहते हैं । मूलतः ये कर्म तो निमित्त मात्र हैं—जीव न स्वयं इन भावों का कर्ता है । जीव कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता स्वयं है । सुखात्मक—दुखात्मक अनुभूति इसका प्रमाण है ।

जैनदर्शन में 'जीव' शरीर प्रमाण माना गया है । अर्थात प्राप्त छोटे या बडे शरीर में तदनुरूप हो जाता है । छोटे या बडे होने पर भी उसके प्रदेशों की हानि नहीं होती न ही वृद्धि होती है । वह असंख्यात प्रदेशी ही रहता है ।

जीव के भेद : सामान्यतः जीव के दो भेद हैं : (१) संसारी जीव (२) मुक्त जीव

कर्म बंधनों से आबद्ध जन्म मरण को भोगता हुआ विविध गतियों में भटकने वाला जीव संसारी जीव है और जो इन कर्मों के बंधन को काट कर मोक्ष में स्थित हो गया वह मुक्त जीव है । मुक्त जीव समानधर्मा होने से उनमें भेद नहीं होते परंतु संसारी जीवों के विविध भेद हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसारी का अर्थ ही है भ्रमण करनेवाला। संसारी शब्दही 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'सृ' धातु से बना है। 'सृ' का अर्थ ही भ्रमण करना अर्थात संसारी जीव चौरासी लाख योनियों एवं चारेां गतियों में भ्रमण करता है।

संसारी जीव के भी-(१) स्थावर और (२) त्रस दो भेद हैं। जिन जीवों का दुख मिटाकर सुख प्राप्त करने की प्रवृत्ति, चेष्टा, गति आदि नहीं हैं, वे स्थावर हैं। ये स्थावर जीव पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय एवं वनस्पतिकाय पांच प्रकार के होते हैं। जैनदर्शन ने ही सर्व प्रथम इन पांच प्रकार के स्थावरों में जीव की कल्पना की और बाद में विज्ञान ने भी प्रयोगों द्वारा इनमें जीव के अस्तित्व का स्वीकार किया। ये पांचों में स्पर्शन द्वारा अनुभव की शक्ति या क्रिया पाई जाने से इन्हें एकेन्द्रिय जीव के अन्तर्गत माना है। इन एकेन्द्रिय स्थावर के भी (१) सूक्ष्म एवं (२) बादर भेद किए गये हैं। अर्थात जो इन्द्रियों से दृष्ट नहीं, पर हैं, सूक्ष्म एवं जो स्थूल रूप से दृष्ट हैं वे बादर स्थावर जीव कहे गये हैं। जैसे माटी, पत्थर, कुवा, नदी, अग्नि, दीपक, अनुभव में आनेवाला वायु, वृक्ष, शाखा, फूल फल आदि बादर पच प्रकारी स्थावर हैं।

दूसरे प्रकार के 'त्रस' जीवों में दुख मेट कर सुख प्राप्ति की चेष्टा क्रिया या गति विद्यमान होती है। ये त्रस दो, तीन, चार और पांच इन्द्रियों वाले होते हैं। लट आदि जीवों के स्पर्शन और रसना नामक दो इन्द्रियां होती हैं। चींटी, जु आदि के इन दो के उपरांत घ्राणेन्द्रिय होती है अतः वे त्रिइन्द्रिय जीव कहलाते हैं। जब कि स्पर्शन, रसना, घ्राण एवं चक्षु इन चार इन्द्रियों के धारक जीव चार इन्द्रिय धारी होते हैं। जैसे मक्खी, बिच्छु, भौरां आदि। जिनके इन चार इन्द्रियों के उपरांत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रवणेन्द्रिय भी होती है वे पंचेन्द्रिय जीव कहलाते हैं। इन पांचों इन्द्रियों वाले जीव पूर्ण रूपेण स्पर्श, रस, गंध रूप और श्रवण का ज्ञान करते हैं। इन पंचेन्द्रियों के भी गति के अनुसार चार भेद हैं। (१) मनुष्य गति (२) देव गति (३) तिर्यंच गति (पशु गति) (४) नरक गति। कर्मों के अनुसार जीव विविध गतियों को प्राप्त कर फल को भोगता है। मनुष्य गति ही श्रेष्ठ गति मानी गई है जहां से संपूर्ण कर्मों का क्षय कर के जीव मुक्त बन सकता है।

जैन दर्शन में जीव की स्वतंत्र सत्ता का स्वीकार किया गया है।

अजीवतत्व : जीव से नितांत विरोधी चैतन्यरहित जड़ पदार्थों को अजीव कहा गया है। जैनदर्शन में इसके पांच प्रकार हैं। (१) धर्म (२) अधर्म (३) आकाश (४) पुद्गल (५) काल। यहां धर्म और अधर्म का प्रयोग पुण्य पाप के संदर्भ में नहीं है। ये दो स्वतंत्र पदार्थ सम्पूर्ण लोक में आकाश की भाँति व्यापक एवं अरूपी हैं। इन दो रूपों का वर्णन अन्य किसी दर्शन में नहीं हैं। इसी प्रकार पुद्गल शब्द का प्रयोग भी मात्र जैन दर्शन में हुआ है। प्रत्येक बनने-बिगड़ने, टूटने फूटने वाले पदार्थ इसके अन्तर्गत हैं। इन पांचोका संक्षिप्त में स्वरुप समझें-

धर्म (द्रव्य) : जो जीव और पुद्गल को गति प्रदान करने में सहायभूत बनता है वह पदार्थ धर्म कहलाता है। जैसे मछली को पानी में चलने में पानी सहायक है उसी प्रकार 'धर्म' भी गति प्रदायीं पदार्थ है। जैसे आकाश (विस्तार) प्राप्त करने में आकाश सहायभूत होता है उसी प्रकार धर्म को जानना चाहिए।

अधर्म (द्रव्य) : धर्म से विपरीत जो जीव पुद्गल को स्थिर होने में सहायक होता है वह अधर्म (द्रव्य) कहलाता है। जैसे श्रमित पथिक को वृक्षकी छाया विश्राम का निमित्तभूत बनती है वैसे ही अधर्म द्रव्य ठहरने में सहायक बनता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि हिलना चलना या ठहरना आदि का स्वतंत्रकर्ता जीव और पुद्गल स्वयं है। स्वयं की क्रियाओं से ही वे चलते या ठहरते हैं परन्तु उनमें सहायभूत पदार्थ ये दोनों द्रव्य माने गये हैं। इस प्रकार गतिशीलता एवं स्थिरता में सहायभूत द्रव्यों का स्वीकार तो वर्तमान विज्ञान ने भी कर लिया है।

ये दोनों द्रव्य आकाश की भांति अमूर्तिक एवं समस्त लोकव्यापी हैं। ये दोनों द्रव्य प्रेरक कारण भी नहीं है। किसी को चलाते न चलाते हैं और न ठहराते ही हैं। ये तो मात्र सहायक द्रव्य ही हैं। घासीराम जैन ने अपने संशोधन ग्रंथ- "कास्मोलोजी(ओल्ड एन्ड न्यू" नामक पुस्तक में न्यूटन के आकर्षण के सिद्धांत में क्रमशः धर्म-अधर्म द्रव्य को स्पष्ट एवं सिद्ध किया है।

आकाश :— आकाश पदार्थ सर्वज्ञात है। समस्त दिशाओं का भी इसी में समावेश होता है। आकाश द्रव्य सभी द्रव्यों को स्थान देता है। यह अमूर्तिक एवं सर्वव्यापी है। जैनाचार्यों ने इस आकाश को (१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश ऐसे दो विभागों में विभाजित किया है। लोक संबंधी आकाश-लोकाकाश और अलोकसंबंधी आकाश अलोकाकास कहा है। सर्वव्यापी आकाश के मध्य में लोकाकाश है। अर्थात ऊपर नीचे एवं आजू बाजू जहाँ तक धर्म अधर्म पदार्थ स्थित हैं वहाँ तक के क्षेत्र को लोक संज्ञा दी है। इससे बाहर आलोक स्थित है। धर्म-अधर्म द्रव्यों के सहयोग से ही जीव और पुद्गल की इस लोक में क्रियायें चल रही हैं। जबकि आलोक में इन दो पदार्थों का अभाव होने से कोई भी जीव या अणु नहीं है। अतः लोक में से अलोक में नहीं जा सकता। लोकमें छह-द्रव्य पाये जाते हैं जबकि अलोकाकाशमें मात्र आकाश द्रव्य ही रहता है। यह आकाश द्रव्य अनंत विस्तार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाला है । लोकाकाश अकृत्रिम है । इसका आदि-अंत नहीं । इसे यों समझा जा सकता है—कटि के दोनों भागों पर दोनों हाथ रखकर और दोनों पैरों को फैलाकर खडे. पुरुष के समान लोक का आकार है । नीचे के भाग में सातनर्क, नाभिप्रदेश में मनुष्य लोक, ऊपर के भाग में स्वर्ग लोक एवं मस्तक प्रदेश में मोक्ष स्थान है ।

समस्त कर्मों को क्षय करने वाला जीव निर्भार होकर ऊर्ध्वगमन करता है परंतु वह लोकाकाश तक ही गमन कर सकता है क्योंकि धर्म द्रव्य गमन में वहीं तक सहायक बन सकता है । यदि दो द्रव्य न होते तो फिर आत्मा कहाँ तक गमन कर कहाँ स्थित होती यह एक प्रश्न खड़ा हो जाता । और फिर मुक्तात्माओं का मोक्षमें स्थिर शंकास्पद या विवादास्पद बन जाता । धर्म और अधर्म द्रव्यों के अस्तित्व एवं गति आदि के कारण ही अखण्ड होते हुए भी उसके दो रूप माने गये हैं । जीव की गति कहाँ तक होगी यह भी इसी से निश्चित हो सका ।

पुद्गलः— जैन दर्शन में स्थूल महास्थूल समस्त रूपी पदार्थों को पुद्गल की संज्ञा दी गई है । यों कहा जा सकता है कि हम जो देखते हैं, खाते हैं आदि सभी पदार्थ; पुद्गल हैं । शास्त्रकारों ने पुद्गल को रूप, रस, गंध और स्पर्शवाला कहा है । पुद्गल' अर्थात 'पुर' एवं 'गल' दो धातुओं के संयोग से निर्मित यह शब्द सिद्ध करता है कि जहाँ मिलन या जुडना एवं खिर जाना या पृथक होना दोनों क्रियाएँ होती हैं वही पुद्गल द्रव्य है । अर्थात अणुसंघात रूप छोटे बडे. पदार्थों में हानि या वृद्धि होती रहती है परमाणु में विलय या पृथकत्व की क्रिया इसी के कारण हैं । परमाणु पुद्गल का मूलतत्व है । उनका संयोजन स्कन्ध कहलाता हैं । समस्त छह द्रव्यों में पुद्गल ही एकमात्र मूर्तिक द्रव्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है शेष अरूपी हैं । यहाँ रूपी से तात्पर्य रूप-रस-गंध स्पर्श से है । अन्य पदार्थों में ये गुण नही पाये जाते अतः अरूपी कहे गये हैं ।

स्पर्श आठ प्रकार का है- कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध एवं रुक्ष, । इसी प्रकार रस पांच प्रकार के हैं-कडुवा तीखा, कषाय, खट्टा, मीठा, । गंध के भी सुगंध और दुर्गन्ध दो प्रकार हैं जबकि काला, पीला, हरा, लाल, और सफेद पाँचवर्ण हैं ।

शब्द, छाया, अंधकार, एवं प्रकाश को भी पुद्गल माना है ।

पुद्गल के भेद : मूलतः दो भेद (१) परमाणु (२) स्कन्ध । शास्त्रकारों ने परमाणु की व्याख्या करते हुए कहा-जो स्वयं आदि, मध्य एवं अंतरुप हो । जिसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किया जा सके । ऐसे अविभावी द्रव्य को परमाणु कहा गया है । ऐसे परमाणु के खंड नही किए जा सकते । ये परमाणु नित्य होते होते हैं । शब्द रुप नही होते, एक प्रदेशी, अविभागी एवं मूर्तिक होते हैं ये परमाणु शब्द की उत्पत्ति में कारण होते है स्वयं शब्दरुप नही होते । स्कंधका अन्तिम विघटन परमाणु है । इसी प्रकार अनेक परमाणुओं का संगठन स्कंध कहलाता है अधिकाधिक परमाणुओं का संगठन असंख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी स्कंध तैयार करते हैं । विज्ञान का एटम कभी अविभाजित था पर आज विभाजित होने से परमाणु नही रह गया । स्कंध है , वह मूर्तिक है । स्कधों के परस्पर टकरानेसे शब्दों की उत्पति होती है । ये परमाणु जुडकर एक रासायनिक प्रक्रिया करके नए पदार्थ (स्कंध) को जन्म देते हैं । स्निग्ध और रुक्षगुण के निमित्त से ही परमाणुओं का बंध होता है । परन्तु ऐसे बंध में एक परमाणु का गुण दूसरे से कम या अधिक होना चाहिए । शरीर का मोटापन, दुबलापन, आदि आकार पुद्गल की ही पर्यायें हैं ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कालः वस्तु के परिवर्तन में सहायक द्रव्य कहलाता है। परिवर्तन वस्तु का लक्षण है। परन्तु बाह्य निमित्त के बिना संभव नहीं काल द्रव्य की सहायता के बिना संसार का परिवर्तन संभव नही होता। वस्तु का रुप बदलना, नये का पुराना होना युवा का वृद्ध होना, वर्तमान काल का भूतकाल में परिवर्तन होना सभी परिवर्तन इन कालद्रव्य के कारण हैं। काल के दो प्रकार (१) निश्चय काल (२) व्यवहारकाल ऐसे दो भाग किए गए हैं। काल अणुओं के कारण ही संसार में प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। इन्हीं के निमित्त से वस्तु का अस्तित्व भी कायम है। आकाश के एक प्रदेश में स्थित पुद्गल का एक परमाणु मन्दगति से जितनी देर में उस प्रदेश से लगे हुए दूसरे प्रदेश पर पहुंचता है उसे समय कहते हैं। समयों का समूह ही विशेष समय बनकर व्यवहारकाल रूप में घटी, पल, दिन रात के नाम से पुकारा जाता है। सूर्य आदि नक्षत्रों की गति को भी काल कहते हैं। यद्यपि अन्य दर्शनो ने काल का स्वीकार किया है पर वे व्यवहार काल तक ही सीमित रहे। मात्र जैन दर्शन में ही कालद्रव्यको अनुरुप वस्तु-स्वरुपमें स्वीकार किया है। यह आकाश की भाँति अमूर्तिक है--पर अनेक रूपा है।

अस्थिकाय :— षड्द्रव्यों में काल के अलावा सभी द्रव्य पंचास्तिकाय माने गये हैं। अस्तिकाय से तात्पर्य है शरीर का होना। जैसे शरीर बहुदेशी होता है वैसे ही काल के अलावा शेष पांच द्रव्य बहुप्रदेशी होते हैं। अतः इन्हें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाच एवं जीवास्तिकाय, कहा गया है। ये पाँचो असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले द्रव्य हैं। काल द्रव्य के असंख्य कालाणु परस्पर आबद्ध रहने के कारण वे 'काय' नही हो पाते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आस्रव :— कर्म के प्रकरण में हम 'कर्म का आगमन' के अन्तर्गत, आस्रव की चर्चा संक्षिप्त में कर ही चुके हैं। तथापि यहां कुछ अधिक समझेंगे। कर्मों का आत्मा के साथ जुडना ही आस्रव है 'जीव के द्वारा प्रतिक्षण मन-वचन और कर्म से जो कुछ शुभ या अशुभ प्रवृत्ति होती है उसे जीव का भावास्रव कहते हैं। उनके निमित्त से कोई विशेष प्रकार की जड़ पुद्गल वर्गणाये आकर्शित होकर उसके प्रदेशो में प्रवेश करती हैं सो द्रव्यास्रव है सर्वसाधारण जनोंको तो कषायवश होने के कारण यह आस्रव आगामी बंध का कारण पडता है इसलिए साम्परायिक कहलाता है, परंतु वीतरागी जनों को वह इच्छा से निरपेक्ष कर्मवश होती हैं इसलिये आगामी बंध का कारण नही होता, और आने के अनन्तर क्षण में झड जाने से ईर्यापथ नाम पाया है।' (जै. सि को पृ. २९६, राजवार्तिक में भी कहा हैं 'जिससे कर्म आव सो आस्रव है यह कारण साधन से लक्षण है। आस्रवण मात्र अर्थात् कर्मों का आना मात्र आस्रव हैं, यह भाव साधन द्वारा आस्रव है। पुण्य-पाप रुप कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहते हैं। जैसे नदियां के द्वारा समुद्र प्रतिदिन जल से भर जाता है वैसे ही मिथ्या दर्शनादि स्रोतो से आत्मा में कर्म आते हैं। (रा. वा. ६, २, ४, ५, ५; ०, ६)

इन दो स्पष्टताओं से इतना स्पष्ट हुआ कि आत्मा के साथ कर्मों का योग ही आस्रव या आगमन है। यह पुण्य या पापमयी या शुभ या अशुभ होता है। जो संसार में भटकाने के कारण साम्परायिक है कारण कि एसे कर्म आस्रव में आकर चिपक जाते हैं। जबकि ईर्यापथ वाले कर्म आकार तुरंत झड़ जाते हैं। इन कर्मास्रवों में हमारी शुभ या अशुभ दृष्टि की महत्ता व राग भावों का विशेष महत्व है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंध :– बंध अर्थात जुड़ना या बंधना । जीव और कर्म के पारस्परिक संयोग को या मिलन को बंध कहा गया है । सरल शब्दों में कहें तो जीव के साथ आस्रव द्वारा जो कर्म संलग्न होते हैं वही बंध है । शुभ कर्मों के आस्रव से शुभ और अशुभ कर्मों के आस्रव से अशुभ कर्म होते हैं । जैन धर्म में शुभ को भी अशुभ की तरह बंध का या बंधन का कारण माना है–क्योंकि संसार या गतियों में भ्रमण दोनों कराते हैं । एक लोहे की बेडी है तो दूसरी सोने की । आस्रव और बंध में थोड़ा सा भेद है । द्रव्यसंग्रह में स्पष्ट करते हुए कहा है– प्रथम क्षण में जो कर्म स्कंधों का आगमन है, वह आस्रव है और कर्मस्कंधों के आगमन के पीछे द्वितीय क्षण में जो उन स्कंधों का जीव प्रदेशों में स्थित होना सो बंध है । यहां एक ध्यान रखना है कि आत्मा के साथ आस्रव द्वारा संयोजित कर्मों का एकमेक होकर एक रासायनिक नया ही रूप बनता है वही बंध है । दोनों अलग–अलग मात्र संयोज रूप नहीं रहते । जीव और कर्म परस्पर प्रभावित होकर नए रुप को ग्रहण कर लेते हैं । धवला में भी इसी आशय का उल्लेख है–'द्रव्य का द्रव्य के साथ तथा द्रव्य और भाव का क्रम से जो संयोग और समवाय है वही बंध कहलाता है ।" विविध अपेक्षाओं से इसके विध–विध भेद किए गये हैं । व्यक्ति इन्हीं बंधों के कारण विविध रूप, योनि, शरीर, सुख–दुख, गति आदि को प्राप्त करता है । कर्मों का बन्ध द्रव्य क्षेत्रादि की अपेक्षा बँधता है । आचार्यों ने अज्ञान, रागादि को ही बन्ध का मुख्य कारण माना है ।

संवर : जिस प्रकार आस्रव अर्थात आना । उसी प्रकार संवर अर्थात रुकना । यों कहा जा सकता है कि जिस प्रकार कमरे की सारी खिड़कियां या दरवाजे खुले होने पर तेज आँधी–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तूफान हवा चारों ओर से धूल आदि उड़ाकर प्रवेश करती है वह आस्रव है। पर जब इन दरवाजे खिड़कियों को बंध कर दिया जाये तो आँधी-पानी एवं उसके साथ आनेवाली धूल आदि पदार्थों का प्रवेश बंद हो जाता है। आचार्यों ने कहा है-'मिथ्यात्व अविरतिः प्रमादः कषायः और मन-वचन कार्य की प्रवृत्ति ये सब कर्मों के आने के द्वारा होने से आस्रव है। इनके विपरीत सम्यक्त्व;देशव्व; महाव्रत, अप्रमाद मोह व कषायहीन शुद्धात्म परिणति तथा-मन वचन कार्य के व्यापार की निर्वृत्ति ये सब कर्मों के विरोध हेतु होने से संवर हैं। हां समितिः गुप्ति आदि रुप जीव के शुद्ध भाव संवर हैं। और नवीन कर्मों का न आना द्रव्य संवर है। (जै. सि. को. पृ १३) तात्पर्य कि नये कर्मों का रोकना या न आने देना संवर है। इसके लिए भेद-विज्ञान-दृष्टि उत्पन्न करके जीवात्मा और आस्रवों का भेद जान लेना चाहिए। ऐसा ज्ञान होने पर कषायादि के कारण उत्पन्न आस्रवों को रोका जा सकता है। नए कर्मों का बांधना यदि नहीं रोका गया तो कभी भी छुटकारा संभव नहीं। द्रव्य ग्रंथ में संवर के लिए आवश्यक तत्त्वों में पांचव्रत, पांचसमिति, तीनगुप्ति, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षा, बाईसपरिषह तथा चरित्र धारण को माना है। इसका उद्देश्य इतना ही है कि आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरुप पर जो कर्मों के आस्रव से कालिमा चढ़ गई है, धुमिल बंधन बंध गये हैं उन्हें साफ करना है। नई गंदगी को रोकना है।

निर्जरा : आस्रव से बंधे कर्मों का क्षय करना निर्जरा है। संवर में नए कर्मों का आगमन रोका गया। पर जो बद्ध कर्म हैं उन्हें नष्ट या क्षय करना ही निर्जरा या जलाना है। जैसे प्रतिक्षण नए कर्मों का आस्रव व बंध होता है वैसे ही प्रतिक्षण उनकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्जरा भी होती रहती है । अनेक जैन शास्त्रों ने कहा 'पूर्व-बद्ध कर्मों का झड़ना निर्जरा है ।' या आत्म प्रदेशों के साथ कर्म प्रदेशों का उस आत्मा के प्रदेशों से झडना निर्जरा है ।' (भगवती आराधना) इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक ग्रंथो में भी व्याख्या विवेचन प्रस्तुत है । निर्जरा के दो भेद सकाम या सविपाक तथा अकाम या अविपाक निर्जरा है । सकाम या सविपाक अर्थात अपने समय से स्वयं कर्मों का उदय में आकर झड़ना । ऐसे कर्म एवं तज्जन्य सुख-दुख को भोगना ही पडता है । कर्म अपना पूरा प्रभाव बताते ही हैं तभी झडते हैं । ऐसे कर्मोदय के समय यदि व्यक्ति चलित या दुर्ध्यान में चला जाये, उसमें कषाय की मात्रा बढ़े तो नए कर्म ही बंधते रहेंगे और व्यक्ति भी मुक्त नहीं हो पायेगा ।

दूसरे अकाम या अविपाक निर्जरा का मतलब है समयसे पूर्व विशेष तपस्यादि द्वारा कर्मों का नष्ट करना । जैसे कच्चे आम को विशेष प्रयत्नों से समय से पूर्व पका लेना । ऐसी निर्जरा उच्च चरित्र धारण करने से ही होती है । जो तपस्विओं के ही संभव है । इस विपाक निर्जरा के भी मिथ्या एवं सम्यक पूर्ण दो उप विभाग हैं । इच्छा निरोध के बिना केवल बाह्यतप द्वारा की गई निर्जरा मिथ्या विपाक के अन्तर्गत होती है जबकि साम्यता की वृद्धि सहित काम क्लेषादि द्वारा की गई सम्यक निर्जरा है । मोक्ष साधक के लिए सम्यक विपाक ही श्रेयस्कर है । तपस्या के माध्यम से ही दोनों प्रकार की निर्जरा संभव है । तप के द्वारा ही संवर और तदनन्तर निर्जरा होती है । और तप भी सम्यक पूर्वक होना चाहिए । चरित्र धारण करने से संवर एवं तप से निर्जरा होती है ।

मोक्ष : मोक्ष अर्थात साध्य की प्राप्ति । आस्रव से मोक्ष तककी यात्रा अर्थात संसारके कर्मों से मुक्त होकर सच्चिदानंद स्वरुप की प्राप्ति । ये चारों तत्त्व क्रमशः सम्बद्ध हैं । आस्रव से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म बंधन होते हैं। उन्हें रोकना आवश्यक तो हैं ही उनका जला देना या क्षय करना ही लक्ष्य होगा। जब तपस्या के माध्यम से कर्म अर्थात आत्मा से चिपके हुऐ पर पदार्थों का नाश हो जायेगा तब आत्मा पवित्र, निर्भार एवं त्रिलोक त्रिकालदर्शी बन जायेगा। केवलज्ञान होनेतक चार घातिया एवं तत्पश्चात चार अघातिया कर्मों के नष्ट होने पर तुंबी की तरह निर्भार आत्मा मोक्ष पद या निर्वाण को प्राप्त हो सकेगा।

मोक्षका लक्षण तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य बतलाते हैं-'बंध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है। इसी प्रकार सर्वार्थ सिद्धि में भी उल्लेख है-'जब आत्मा कर्ममल कलंक और शरीर को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरुप और अव्याबाध सुख रुप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं।' ऐसी ही व्याख्यायें राजवार्तिक, समयसार आदि ग्रंथों में हैं। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से मोक्ष के भी भेद-उपभेद हैं। परंतु हमे इतना ही जानना है कि निर्जरा से निर्मल आत्मा ही मोक्ष का अधिकारी है। जो जीव कर्ममल से मुक्त होकर उर्ध्व लोक के अन्तकी प्राप्ति करता है वह सर्वदर्शी बनकर अतिन्द्रिय सुख को प्राप्त होता है। ऐसा जीव अर्हंतपद की प्राप्ति करता है। कर्मों की निर्जरा होते ही जीव अनिर्वचनीय सुखका अनुभव करता है अशरीरी बन जाता है-सिद्ध हो जाता है।

पुण्य-पाप : सात तत्त्वों को मानने वाले आचार्यों ने पुण्य-पाप को आस्रव एवं बन्ध के अन्तर्गत माना है। क्योंकि शुभ या अशुभ अर्थात पुण्य या पाप कर्म आस्रव में आने से ही शुभ या अशुभ बंध होता है तदनुसार ही कर्मों का उदय होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमें भोगना पड़ता है। फिरभी जिन आचार्यों ने नव तत्त्वों का स्वीकार किया है उन्होंने मूलतः इनका संबंध शुभाशुभ भावों से ही मूलतः स्वीकार करते हुए विवेचन किया है। ऐसे शुभ कार्य जिनसे उत्तम गति सम्पन्नता एवं सुख मिले वे पुण्य कार्य हैं जबकि इससे विरुद्ध दुखदायी कार्य पाप कार्य हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय कर्मों को अशुभ होने से पाप कर्म कहा गया हैं। अन्य शेष में शुभ एवं अशुभ दोनों प्रकृतियाँ होने से पाप-पुण्य के अन्तर्गत आते है। (इन कर्मों की चर्चा 'कर्म' प्रकरण में हो चुकी है)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद

भारतीय दर्शनो में जैन दर्शन की विशिष्टता है उसका मौलिक प्रदान अनेकांत दर्शन। इस दर्शन को प्रस्तुत करने की शैली का नाम ही स्याद्वाद है। एक और जहां अनेकांत मन के द्वन्द्वो का परिमार्जन करता है वही वचन की स्पष्टा, निर्द्वन्द्वता इस स्याद्वाद पूर्ण भाषा से प्रकट होती है। इससे पूर्व कि विषय पर गहराई से विचार करें–पहले इस स्याद्वाद के शाब्दिक एवं निहितभाव के अर्थ को समझ लें। "स्याद्वाद" "स्यात" एवं "वाद" दो पदों का संयोजन है। जैन वाङ्मय में इस "स्यात्" का अर्थ "कथंचित्" अर्थात् एक निश्चित अपेक्षा माना है और "वाद" कथा का द्योतक है। इस तरह यों कहा जा सकता है कि एक निश्चित अपेक्षा से किया गया कथन ही स्याद्वाद है। थोड़ा सा और गहरे उतरें तो निश्चित अपेक्षा में एक निश्चित दृष्टिकोण या निश्चित विचारों का बोध निहित है। जो यह संकेत देता है कि वस्तु के जिस अंश के बारे में जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा रहा है वह उस अंश का पूर्ण कथन है। पर साथ ही यह भी दिशानिर्देश होता है कि कथित अंश के उपरांत अन्य शेष अंश में अन्य गुण भी हैं। युग पुरुष हेमचन्द्राचार्य ने सिद्धहेमशब्दानुशासन' ग्रंथ में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'स्यात्' 'अर्थात्' 'अमुक अपेक्षा से' या अमुक दृष्टि कोण। स्यात् यहाँ अव्यय है जो अनेकांत सूचक है। अर्थात् अनेकांत रुप से कथन शैली ही स्याद्वाद का अर्थ है। इसका दूसरा नाम अनेकांत है। अनेक एवं अन्त शब्द का युग्म है। यहां अंत का अर्थ धर्म, दृष्टि, दिशा अपेक्षा किया जायेगा। सरल शब्दों में कहें तो यह कहा जा सकता है कि वस्तु के हम जिस गुण की चर्चा प्रमुख रुप से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर रहे हैं उसमें अन्य गुण या स्वभाव भी विद्यमान हैं ही। इससे यह प्रतिफलित या सिद्ध होता है कि वस्तु में अनेक धर्म अर्थात् गुण विद्यमान हैं एक अंश में सभी धर्म या स्वभाव पूर्ण हैं यह कथन असंभव है और ऐसा कथन अपूर्ण होगा। वस्तु एक ही निश्चित गुण धर्म स्वाभावी है यह कथन ही एकांत दृष्टि युक्त जो अन्य गुणों की उपस्थिति का अस्वीकार या तिरस्कार है जो संघर्षों का जनक है। इसी वैचारिक या मानसिक संघर्ष को टालने के लिये वस्तु के अनेक स्वरूपी रूप को स्वीकार करते हुए उसे वाणी की शुद्धता भी जैनदर्शनों ने प्रदान की।

जैनदर्शन के इस 'स्यात' में मात्र स्यात नहीं अपितु 'स्यादस्ति' का प्रयोग किया है देखिए स्यात साथ संलग्न अस्ति एक स्वीकृति है अर्थात अपेक्षित है। सर्व प्रथम 'अस्ति' यानी हकारात्मक या विवेचात्मक दृष्टि को ही स्वीकार किया है। किसी वस्तु में निहित तथ्य या लक्षण का 'नास्ति' या मात्र 'शायद' की अनिश्चितता में प्रयुक्त नहीं किया। इससे इतना तो तय हो ही जाता है कि कथित तथ्य के 'अस्ति' बोध का स्वीकार है। इस अस्ति में स्वीकृत वस्तु के स्वभाव या गुणधर्म का स्वीकार करते हुए भी हम यह नहीं कहते कि 'यह ही है'। हम कहते हैं यह भी है अर्थात् अन्य गुण या धर्म भी हैं। तात्पर्य कि हम जिसका कथन कर रहें हैं उसके उपरांत के गुणों का हम निषेध नहीं कर रहे। अपने विचारों की स्थापना जैसा कि हम वस्तु के स्वरुप को वर्तमान में निहार रहें है–करते हुए उसके प्रति कन्य दृष्टिकोणों का निषेध नहीं करते। परिणाम स्वरुप अपने कथन के साथ अन्य के कथन में विरोधी नहीं बनते और वैचारिक संघर्ष नहीं करते। वाणी में कटुता नहीं लाते और वैचारिक आक्रमण से बचते हुए सूक्ष्म हिंसा से भी बच जाते हैं। इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार यह 'स्यात' वस्तु के कथित धर्मों के साथ अन्य स्थित धर्मों का रक्षक बन जाता है। जिस वस्तु को जिस परिस्थिति और संदर्भ में देखते हैं उस समय तथाकथित गुण मुख्य बन जाते हैं पर अन्य गुण नहीं नष्ट हो जाते। यदि अन्य व्यक्ति अन्य गुणों की अपेक्षा वस्तु का कथन करें तो उसे असत्यवाणी कैसे कहा जा सकेगा ? उदाहरणार्थ एक व्यक्ति पत्नी की अपेक्षा से पति है, उसी समय वह माँ की अपेक्षा से पुत्र भी हैं। यहाँ व्यक्ति को परखने का दृष्टिकोण है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु, विचार आदि को समझना चाहिये। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि 'स्याद्वाद' सोचने की चिंतन की विशाल भूमिका प्रदान करता है। हम जिस समय जो सोचते हैं वह उतने में पूर्ण निश्चय है—संशय नहीं। सच तो यह है कि वस्तु या विचार गत 'यही है' या 'इसके अलावा कोई सत्य नहीं' जैसे एकांगी भाव ही संघर्ष, मतभेद एवं संकीर्णता को जन्म देते हैं। व्यक्ति को अनुदार बनाते हैं जो अपनी ही बात मनवाने को हिंसात्मक तक हो जाता है। आज के संघर्षों की जड ऐसे एकांकी विचारो का परिणाम है। विद्वानों ने इस 'अस्ति' के माध्यम से परीक्षण कर विविध दृष्टियों से सत्य को समझने का प्रयास किया। एक धिकार वाद का दूषण इसी से मिटाना संभव है। 'स्यात शब्द एक ऐसी अंजनशलाका है जो उनकी दृष्टि को विकृत नहीं होने देती, वह उसे निर्मल और पूर्णदर्शी बनाती है।

यह जैनधर्म की विशालता ही है कि उसने परस्पर विरोधी मालूम होने वाले धर्मों को भी सामंजस्य से देखा और परखा। इसीलिए उसे वास्तव बहुत्व वादी कहा गया है। वह प्रत्येक वस्तु वा विचार पर सहानुभूति से विचार कर निरर्थक भ्रमजालों को तोड़ता है और विचारों को तो शुद्ध करता ही है, वाणी को भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्ध बनाता है। डॉ. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्यने ठीक ही लिखा है-'जब अनेकान्तदर्शन चित्त में मध्यस्थ भाव, वीतरागता और निष्पक्षता को उदय करता है वहाँ स्याद्वाद वाणी में निर्दोषता आने का पूरा-पूरा अवसर देता है।'

भगवान महावीरका समय वह समय था जब उपनिषदवादी विश्व सत है या असत, उभय या अनुभव के अनिश्चितता में थे..... जब महात्मा बुद्ध विचार वैविध्य से बचने या टालने के लिए या तो मौन थे या शिष्यों को मौन रहने का उपदेश दे रहे थे...उस समय इन विविध मान्यताओं को विरासत में लेकर महावीर के पंथ में दीक्षित होने वालोंको जिज्ञासा की पूर्ण तृप्ति आवश्यक थी अन्यथा व्यावहारिक संघर्ष भविष्य के लिए बड़ा अनिष्टकारी हो जाता। अतः महावीर ने वीतरागता और अहिंसा के उपदेश और बाह्य व्यवहार शुद्धि के साथ चित्त के अहंकार और हिंसा को बढ़ानेवाले सूक्ष्म मतभेदों को भी निर्मूल किया। उन्होंने वस्तु के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य परिणामी स्वरुप को समझाया और द्रव्य एवं पर्याय की दृष्टि से उसकी नित्यता एवं अनित्यता को स्पष्ट किया। सचमुच इस सापेक्ष दृष्टि ने शिष्यों को निर्द्वन्द्व बनाया। कथन के साथ उससे भी विशेष वस्तु के परीक्षण पर जोर दिया। अग्नि गरम या ठंडी इस चर्चा को मतभेद का विषय बनाने से क्या यह अच्छा नहीं कि उसको छूकर सही दशा को परखा जाए।

'स्याद्वाद' यह स्पष्ट करता है कि भाई! किसी वस्तु का एक ही बार एक ही दृष्टि से पूरा परिचय दे देना असंभव है। यह स्यात विद्यमान गुणधर्मों के साथ अविद्यमान गुणों या अविवक्षित गुणों के अस्तित्व का भी द्योतन करता हैं। इसीलिए विद्वानों ने इस स्यात को एक सजगताका प्रतीक भी माना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्याद्वाद' अनेक विकल्पों को दूर करता है। श्रीमद् राजचंद्र ने ठीक कहा 'करोड़ जातियों का एकही विकल्प होता है। जबकि एक अज्ञानी के करोड़ विकल्प होते हैं।'

जो भी लोग एकांतवादी हैं वे वस्तु के धर्म-वैविध्य को समझे बिना ही अपना विरोध करते हैं। सूक्ष्मता से देखा जाय तो वस्तु विरोधी स्वाभावी नहीं है, अपितु विरोध हमारी दृष्टि या समझ मात्र है। इसी नासमझी की औषधि यह 'स्यात्' है। हिन्दू धर्म में जहाँ हर वस्तु ईश्वर निर्मित मान ली वहीं एकांगी विचार पनपे। इसी संदर्भ में जाति-पांति के भेद बढ़े। इतना ही नहीं, ईश्वर को अवतारी मानने के कारण उसके सभी कृत्य लीला बन गये। वेद ईश्वर कथित माने गये, और उन्हें ही आस्तिकता व नास्तिकता का मापदंड माना। उन्हें न माननेवाले लोग या विचाधारा को नास्तिक कहकर तिरस्कार की दृष्टि से देखा गया। जिसका शिकार जैन व बौद्ध धर्म बने। जांति-पांति का वैमनस्य ईश्वर के प्रति मान्यताओं का विषम ज्वर इसीसे पनपा।

जैन धर्म या सिद्धांत ने वस्तु को उत्पाद-व्यय एवं ध्रौव्य मानते समय स्थान-काल द्रव्य-भाव के साथ परिणामी माना है। एक ही वस्तु द्रव्य के परिप्रेक्ष्य में स्थिर है तो पर्याय के परिप्रेक्ष्य में परिवर्तनशील भी है। जैसे सोना द्रव्य है-स्थिर या अविनाशी है...पर अलग अलग गहनो में परिवर्तन उसका विनाश भी है। कुछ लोग यह शंका उठाते हैं कि एक ही साथ एक ही वस्तु स्थाई भी है और अस्थाई भी है यह कैसे संभव है? पर वें भूल जाते हैं कि इस कथन में द्वन्द्व या शंका नहीं है पर उसका परीक्षण द्रव्य एवं पर्याय के संदर्भ में होने से वह अमिट भी है और परिवर्तनशीलता या वैविध्य देखते हैं उसके मूल में वही गुण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैविध्य है-या पर्याय परिवर्तन की स्वाभाविक प्रक्रिया है। सच कहें तो संसार की परिवर्तनशीलता इसी गुणमयता के कारण है इसीलिये जैनदर्शन के अनुसार संसार का कभी पूर्ण नाश नहीं होता। उसमें निरंतर क्षय और निर्माण की प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है। हाँ! द्रश्य परिवर्तन होते रहते हैं। जैनदर्शन में इस स्याद्वाद की मदद से हम वस्तु के अनंत धर्मों अर्थों को पकड़ सकने में सफल बनते हैं।

जैनाचार्यों ने स्याद्वाद को श्रुतज्ञान का सकलदेश रुप माना है। जिसे 'प्रमाण' कहा है। जो वस्तु के अखंड स्वरुप को ग्रहण करता है। आचार्य अकलंकदेव ने सरलता से स्पष्ट किया जहाँ 'अस्ति' शब्द के द्वारा सारी वस्तु समग्र भाव से पकड़ी ली जाय वह सकलदेश है।.. सकल देश में समग्र धर्म यानी पूरा धर्म एकभाव से गृहीत होता है। इसी प्रकार आ. सिद्धसेनगणी अभयदेवसूरी आदि ने 'सत असत और अवक्तव्य' इन तीनों भागों को सकलादेशी माना है। जबकि उ. यशोविजयजीने सातों भंगों को सकलादेशी एवं विकलादेशी (एक धर्म का मुख्य रुप से कथन करने की पद्धति) माना है।

इस 'स्याद्वाद' को लेकर अनेक धर्मावलंबी विद्वानोंने विविध रूप से मूल्यांकन किया है जो अनेक प्रकार से विवादास्पद या स्याद्वाद को पुर्ण रुप से आत्मसात् न करने के कारण या एकाँगी दृष्टि के कारण दोष युक्त ही रहा। अरे! ये आलोचक या मत प्रवर्तक महावीर की उस दृष्टि को नही समझ सके जिसमें वस्तु को अधिक से अधिक कथनों से जानने समझने का विधान है। जो सप्तभंगी के सिद्धांत से प्रसिद्ध हुई। वस्तु को गुणात्मक, ऋणात्मक या उभय रूपों से देखने का प्रतिपादन ही इस तथ्य का द्योतक है। कि मात्र एक ही कथन या दृष्टि से वस्तु के अनंत धर्मों का कथन असंभव है और उसके प्रति पुर्ण न्याय के लिए ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सात कथन-प्रकार ही पूर्ण परीक्षण में सहायक होंगे। महापंडित राहुलजी ने इस स्याद्वाद की उत्पत्ति संजयवेलट्ठिपुत्त के चार अंगोंवाले अनेकान्तवाद से मानते हुए उसे ही सात अंगों में परिवर्तित माना है। राहुलजी ने संजय के नितांत अनिश्चयवाद के साथ कैसे स्याद्वाद को जोड़ा यह विचित्र लगता है। डॉ. महेन्द्रकुमार जैन व्याकरण चार्य ने इन विविध मीमांसकों के मतों के साथ स्याद्वादकी तुलना करते हुए उसकी विशिष्टता पर जिस रुप से प्रस्तुत किया उससे स्याद्वाद के विषय में स्पष्टता होती है।

मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ कि जहां भगवान बुद्ध ने शंका निवारण के स्थान पर मौन धारण किया या शिष्यों से कहकर-'इनके बारे में कहना सार्थक नहीं, भिक्षुचर्या के लिए उपयोगी नहीं, न वह निर्वेद, निसेध शांति परमज्ञान या निर्वाण के लिए आवश्यक है।'-उन्हें मौन कर दिया वहीं महावीर ने जिज्ञासुओं को मौन रहने का आदेश नहीं दिया, अपितु उनकी जिज्ञासा को संतुष्ट किया। संजय की भाँति अनिश्चितता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस संतुष्टि का आधार था सप्तभंगी एवं स्याद्वाद पद्धति। डॉ. संपूर्णनंद ने इसे सप्तभंगी न्याय या स्याद्वाद को बाल की खाल निकालने वाली पद्धति कहा। पर वे भूल गये कि वाद विवादों, संशय एवं अनिश्चितता के युग में यह परम आवश्यक पद्धति थी। डॉ. जैन ने सच ही लिखा-'जैनदर्शन ने दर्शन शब्द की काल्पनिक भूमि से उठकर वस्तु सीमा पर खड़े होकर जगत में वस्तु स्थिति के आधार से संवाद, समीकरण और यथार्थ तत्वज्ञान की अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद भाषा दी, जिनकी उपासना से विश्व अपने वास्तविक स्वरुप को समझ निरर्थक वादविवाद से बचकर संवादी बन सकता है।' श्री शंकराचार्यजी ने एक ही पदार्थ में 'अस्ति एवं नास्ति' परस्पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरोधी धर्म का होना असंभव मानकर इस स्याद्वाद कथन को असंगत कथन कहा है। शंकराचार्यजी चूँकि एक ही पदार्थ में शीत–उष्ण होने की बात का उदाहरण देकर कुछ तर्कों द्वारा सिद्धांत को असंगत कहते हैं पर वे भूल गये कि अपेक्षा भेद से एक ही पदार्थ में अनेक विरोधी धर्म हो सकते हैं। जैसे कोई व्यक्ति बड़े की अपेक्षा कनिष्ठ है तो छोटे की अपेक्षा ज्येष्ठ भी है। अरे ! एक ही नरसिंह स्वरूप पर नर एवं सिंह शरीर के भाग की अपेक्षा क्या सत्य नहीं है ? तात्पर्य कि हमें सापेक्ष दृष्टि से देखना होगा। हां ! यदि एक ही दृष्टि से 'अस्ति–नास्ति' कथन हो तो अवश्य दोष होगा। जैसे एक ही व्यक्ति को पति और पुत्र एक ही स्त्री के संबंध में कहा जाये तो भारी विडंबना होगी ही। स्वर्ग नरक की दृष्टि से नास्ति होने पर क्या स्वर्ग मिट गया ? शंकराचार्यजी ने अपेक्षा भेद से इस सिद्धांत को समझा होता तो शायद वे स्पष्ट हो सकते थे। श्री बलदेव उपाध्यायजी यद्यपि स्यात का शब्दार्थ 'शायद' नहीं करते पर 'संभवतः शब्द को मानकर वे श्री शंकराचार्यजी का समर्थन करते हैं। श्री शंकराचार्यजी की मान्यता को विद्वान भी रूढ़िगत मानते जा रहे हैं। जो लोग 'स्याद्वाद' में 'स्यात' का अर्थ 'संभवतः' मानते हैं वे भी अर्थसत्य तक ही अपनी दृष्टि दौड़ाते हैं। स्याद्वाद तो वस्तु के निश्चित गुण कथन स्पष्टता का द्योतक है अतः उसमें संशय या संभावना दोनों की कल्पना ही अव्यवहारिक है।

वर्तमान युग के विद्वान चिंतक डॉ. राधाकृष्णन ने स्याद्वाद को अर्ध सत्य तक पहुंचने वाला ज्ञान माना है। इससे पूर्ण सत्य नहीं जाना जा सकता। उनके अनुसार स्याद्वाद अर्धसत्य तक पटक देता है। इस अर्धसत्य मान्यता का खंडन करते हुए भी महेन्द्रकुमारजी ने सच ही लिखा है कि राधाकृष्णन इसके हृदय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तक नहीं पहुंचे न ही उन्होंने जैनदर्शन के उस सत्य को परखा जो वेदांत की तरह चेतन और अचेतन काल्पनिक अभेद की दिमागी दौड में शामिल नहीं हुआ। साथ ही जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्त धर्मात्मक है, जब उस वास्तविक नतीजे पर पहुंचने को अर्ध-सत्य कैसे कहा ? डॉ. देवराजजी ने भी 'पूर्व और पश्चिमी दर्शन' में स्यात का अनुवाद कदाचित किया जो ठीक नहीं। क्योंकि कदाचित तो संशय ही उद्भव करेगा।

अरे ! प्रमाणवार्तिक के आचार्य धर्मकीर्ति तो जैसे रोष में प्रलाप ही कर बैठे और बलिहारी तो यह है कि सभी तत्वों को उभयरुपी मानने के संदर्भ में वे दही और ऊँट को एक मानकर दही की जगह ऊँट खाने की बात कर बैठते हैं। अब इसे तर्क कहा जाये या विकृत या कुतर्क। उन्हें यही भेद मालूम नही कि द्रव्य की अतीत और अनागत पर्यायें जुदी हैं। व्यवहार तो वर्तमान पर्याय के अनुसार चलता है।

प्रज्ञाकर गुप्त जैसे चिंतक तो वस्तु के उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य को ही सत्य नहीं मानते। वे क्या यह स्वीकार करते हैं कि मिट्टी घट बनकर मिट्टी के मूल स्वरुप में है ? 'क्या पर्याय नहीं बदली ?' क्या एक क्षण के व्यय हुए बिना नया क्षण आयेगा ? क्षण सन्तति निरंतर चालू रहती है। काश वे समझ सकते कि 'वर्तमान क्षण में अतीत के संस्कार और भविष्य की योग्यता का होना ही ध्रोव्यत्व की व्याख्या है।' इसी प्रकार तत्कालीन अनेक बौद्धाचार्यों एवं हिन्दू धर्म के चिंतकों ने 'स्यात' को पूर्ण रूप से न समझने के कायरण या एकांतवादी दृष्टि से इसमें शंका कदाचित, अर्धसत्य जैसे विधानों से अपना रोष या विरोध प्रकट किया। श्री श्रीकंठ जैसों ने स्याद्वाद में अपेक्षारुपी व्यवस्था को गुड़ चटाकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूर्ख बनाने वाली बात ही कह दी। श्री रामानुजाचार्य या वल्लभाचार्य इसे विरोधाभाषी दूषण उपस्थित करने वाला दर्शन ही मानते रहे। चूंकि ये सब वेदों के एकांतवाद से प्रभावित है अतः ऐसी विचार वैविध्य की भाषा दर्शन को मानना संभव भी कैसे होता ?

इन सभी विचार धाराओं पर विचार प्रकट करते हुए डॉ. महेन्द्रजी ने कितना सचोट तर्क प्रस्तुत किया है—व्यतिकर परस्पर विषय गमन से होता है यानी जिस तरह वस्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य है तो उसका पर्याय की दृष्टि से भी नित्य मान लेना या पर्याय की दृष्टि से अनित्य है तो द्रव्य की दृष्टि से भी अनित्य मानना। परंतु जब अपेक्षायें निश्चित हैं, धर्मों में भेद हैं, तब इस प्रकार के परस्पर विषयागमन का प्रश्न ही नहीं है। अखंड धर्मी की दृष्टि से तो संकर और व्यक्तिकर दूषण नहीं, भूषण ही है। भगवान महावीर ने उपेय तत्त्व के साथ उपाय तत्त्व का भी सांगोपांग वर्णन करके सारे संशय दूर किये।

क्षु. जिनेन्द्रकुमार वर्णीजी ने जैनेन्द्रसिद्धांतकोश में कितना स्पष्ट अर्थ दिया है 'मुख्य धर्म को सुनते हुए श्रोता को अन्य धर्म का स्वीकार होते रहे। उनका निषेध न होने पावे इस प्रयोजन से अनेकान्तवादी अपने प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् या कथंचित् शब्द का प्रयोग करता है।

इस विवेचन या चर्चा-चिंतन के पश्चात् इतना स्पष्ट हो ही गया कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मी है। उसकी परख विविध दृष्टिकोण से की जाये तो उसका सही मूल्यांकन किया जा सकता है। प्रत्येक पदार्थ पर्यायानुसार परिवर्तनशील है पर द्रव्यार्थिदृष्टि से स्थिर भी है। स्याद्वाद का व्यवहारिक स्वरूप व्यक्तियों के बीच प्रेम, मैत्री और समभाव को पनपाता है। चित्तको राग-द्वेष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुक्त करके स्वस्थ बनाता है। 'ग्रन्थी' से बचाता है। विश्व अशांति दूर करने का इससे सरल उपाय क्या होगा कि हम अपनी बात मनवाने के साथ दूसरों की बात भी माने।

वर्तमान युग के महान वैज्ञानिक आईन्स्टाईनके सापेक्षवाद में दृष्टि वैविध्य से वस्तु परीक्षण में स्याद्वाद दर्शन ही तो प्रस्थापित हुआ है।

परस्पर द्वेष का कारण दृष्टिभेद है इसे प्रेम में परिवर्तन किया जा सकता है। दृष्टि को समझाने की स्याद्वादमयी विशालता-सरलता एवं तरलता से है।

चूँकि अनेक स्थानों पर ब्रह्मवादियों या एकांतदर्शनिकों के कथनों में ही स्याद्वाद की परोक्ष स्वीकृति स्याद्वाद की महत्ता की स्वीकृतिका द्योतक है। उ. यशोदाविजयजी ने कुमारिल भट्ट एवं पातंजलके ही ऐसे उदाहरण अपने ग्रन्थ अध्यात्मोपनिषद् में उद्धरित कर स्याद्वाद की प्रतिष्ठा को प्रस्थापित किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिरत्न

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः ।' सम्यक् दर्शन-ज्ञान और चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है । इस सूत्र से प्रायः हर जैन परिचित लगता है । अनेक बार हम उसका प्रयोग करते हैं । इस रत्नत्रयी मोक्षमार्ग को पूरे जैन दर्शन-आराधना की नींव की ईंट मान सकते हैं । यही कारण है कि इन तीन तत्त्वों या बातों की चर्चा प्रायः हर युग के हर आचार्य ने अपने-अपने ढंग से की है । लाखों पृष्ठ लिखे गये हैं । सूक्ष्मतम व्याख्यायें की गई हैं । हम अपनी चर्चा में उतने ही गहरे उतरेंगे जितने में हम उस पंथ को जान सकें...फिर मोक्ष मार्ग का साधक ज्ञान-साधनासे स्वयं गहराई को माप लेगा।

पिछले प्रकरणों में हमने कर्म एवं तत्वों की चर्चा की । अंत में हमारा मूल उद्देश्य तो कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष या मुक्ति तत्त्व की प्राप्ति करना ही है । इसलिए दर्शन-ज्ञान और चारित्र की समझ एवं धारणा आवश्यक है । आचार्यों ने इन त्रिरत्नों को भी 'सम्यक्' विशेषता से आबद्ध किया है । हमारा दर्शन ज्ञान और चरित्र पूर्ण समझदारी का समतौल एवं आत्म कल्याणकारी है। अन्यथा भटक जाने का डर हो सकता है । सम्यक् का अर्थ ही प्रशंसनीय है । जिसका अर्थ शब्दार्थ एवं तत्त्व के अर्थ के रूप में किया जाता है । सरल भाषा में जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा जानना ही सम्यक्त्व का लक्षण है ।

सम्यग्दर्शन :- इस प्रकार वस्तु के स्वरूप को यथातथ्य रूप देखना उसके स्पष्ट भेद को जानना एवं कर्तव्याकर्तव्य के विवेक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को समझना ही सम्यग्दर्शन है । यों कहना उचित है कि सप्त तत्वों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है । और तत्वों में श्रद्धा रखने का तात्पर्य ही है निजस्वभाव या निज आत्मा में श्रद्धा रखना । ऐसी श्रद्धा भव्य जनों में होती है । ऐसी दृष्टि प्राप्त जन मोक्ष में ही श्रद्धा रखते हैं । दर्शन का अर्थ ही है देखना । अर्थात आत्मा में आगम और पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं । इसीलिए शास्त्रकारों ने श्रद्धा, रुचि स्पर्श, प्रत्यय और प्रतीति को सम्यग्दर्शन के पर्याय माने हैं ।

सम्यग्दर्शन मूलतः दो प्रकार से भव्य जीव को प्राप्त होता हैं–(१) स्वयं अन्तर से, जिसे निसर्ग कहा गया है । दूसरा बाह्य उपदेश (शास्त्र–पठन–पाठन) से उत्पन्न अधिगमज कहा गया है । एक स्वयं उद्भूत है दूसरा प्राप्त । निसर्गसम्यग्दर्शन में तत्त्वज्ञान–जन्य पूर्व संस्कार काम करते हैं । इनके साथ ही अधिगमज में ज्ञान की अभिलाषा से वह प्राप्त होता है । आगम में इस सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के अनेक निमित्त प्रस्तुत किए गये हैं । नरक गति में (१) जातिस्मरण (२) धर्मश्रवण और (३) वेदना विभव होते हैं । इसमें से धर्मश्रवण तीसरे नरक तक माना गया है ।

मनुष्य व तिर्यंच गति में भी (१) जातिस्मरण (२) धर्मश्रवण व (३) जिनबिंबदर्शन को निमित्त माना है । जबकि देवगति में - १) जाति स्मरण (२) धर्मश्रवण (३) जिन महिमा दर्शन एव (४) देवऋद्धिदर्शन निमित्त माने गये हैं । इन निमित्तों में धर्मश्रवण को छोड़कर सारे निसर्गज निमित्त हैं ।

इन बाह्य कारणों के उपरांत कुछ आंतरिक कारण हैं जिनके होने पर सम्यग्दर्शन नियमतः उत्पन्न होता है । दर्शनमोहनीय कर्म के कारण आत्मा का स्वभाव घातित हो रहा है इसके अभाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते ही निजात्मा स्वभाव प्रकट होता है यही सम्यग्दर्शन है। मोहनीय कर्म का अभाव उपशम क्षय और क्षयोपशम से होता है।

इस सम्यग्दर्शन के आठ अंग या भेद हैं-

(१) निःशंकित (२) निष्कांक्षित (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढ़दृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य (८) प्रभावना।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए या जिसे प्राप्त हो गया है ऐसा जीव सच्चे तत्त्वों पर निःशंकभाव से श्रद्धा करता है। आत्मार्थी जीवने जिस सम्यक्मार्ग को ग्रहण किया है उसमें दुविधा नहीं होनी चाहिए, तभी आस्था दृढ़ हो सकती है।

सच्चे मार्ग पर या देव शास्त्र गुरु पर श्रद्धा करते हुए हमें किसी भी प्रकार के भौतिक सुखों की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। हमारी साधना का साध्य आत्मा की प्राप्ति या मोक्ष की उपलब्धि होनी चाहिए। संसार के सुख परिवार आदि से पूर्व निष्काम भाव रखना चाहिए। सकाम (संसार के सुख) आराधना कभी भी पथभ्रष्ट करा सकती है। आकांक्षा से काम करनेवाला अधिक समय तक धैर्य नहीं रख सकता। आकांक्षा की अपूर्ति या विलंब उसमें अश्रद्धा उत्पन्न कर सकता है। ऐसा प्राणी सत्मार्ग से च्युत हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि जीव का हृदय तो वात्सल्य के निर्मल जल से भरा होता है। वह रोगी दरिद्री आदि को देखकर घृणा नहीं करता। वह यही सोचता है कि कर्मों के फल हैं। ऐसा व्यक्ति निर्विचीकित्सा भाव से बाह्य रोगादि को न देखकर आन्तरिक गुणों के वैभव को देखता है।

सम्यग्दृष्टि जीव की बुद्धि परिमाणित सद असद का निर्णय करने वाली होती है। उसकी मूढ़ दृष्टि का विलय हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा व्यक्ति कभी कुमार्ग या कुमार्गी का अनुसरण या अनुमोदन नहीं करता । वह कभी मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होता ।

जिसे सम्यग्दर्शन की आँख प्राप्त हुई है ऐसा मुमुक्षु अपने गुणों की अभिवृद्धि करता है । पर निंदा की वृद्धि उसमें नहीं होती उल्टे दूसरों के दोषों को ढांकने का वह प्रयत्न करता है । मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव कभी सुमार्ग में अन्तराय या विघ्न उपस्थित करते हैं तो उसे भी सम्यग्दृष्टिजीव दूर करने का प्रयत्न करने सच्चे मार्ग के प्रति उत्पन्न विवाद या निन्दा को दूर करते रहते हैं ।

स्थितिकरण अर्थात् मूलस्थिति में पुनः स्थापित करना, यदि कोई प्राणी (विशेष कर व्यक्ति) किन्हीं स्वार्थ या परिस्थितियों के कारण सन्मार्ग से डिगता हो, उसका त्याग करता हो तो उसे उससे बचना चाहिए । पुनः सद्पंथ पर आरुढ़ करना चाहिए ।

वात्सल्य अंग के प्रभाव से ऐसा व्यक्ति साधर्मी मुमुक्षुओं के प्रति स्नेह से भरा होता है । वह अहिंसामयी जिनमार्ग से स्नेह करता है ।

'प्रभावना' स्वयं में एवं उत्तम धर्म प्रसार का साधन है । सम्यग्दृष्टि जीव जगत में व्याप्त अज्ञानरूपी अंधकार को दूरकर अहिंसामयी आत्मा के धर्म का प्रसार करता है ।

सम्यग्दर्शन से युक्त जीव उन आठ अंगों से परिपूर्ण होकर जीवन जीता है । उसमें किसी प्रकार का मद या अभिमान नहीं होता । कभी किसी को स्वयं से हीन मानकर उसका अपमान नहीं करता । अरे अपने प्रखर विरोधी का भी दिल नहीं दुखाता - माध्यस्थ भाव रखता है । कभी परनिंदा नहीं करता । ज्ञानप्राप्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में इसी लिए-तीन मूढ़ता, आठ मद, छ अनायतन और आठ दोषों को मिला कर कुछ २५ सम्यग्दर्शन के दोष माने गए हैं ।

वर्तमान की भाषा में कहें तो सम्यग्दर्शन प्राप्त व्यक्ति कषाय रहित, सर्वजीवों के प्रति दयालू, निराभिमानी तटस्थ एवं सच्ची आराधना में लगा जीव है ।

भगवती आराधना, मोक्षपाहुण, भावपाहुड, रयणसार, सर्वार्थसिद्धि आदि ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव को सर्वाधिक भ्रष्ट माना है । एक बार चरित्रभ्रष्ट मुक्त हो भी सकता है—दर्शन भ्रष्ट कभी मुक्ति नहीं पा सकता-ऐसा विधान है । दर्शन भ्रष्ट का पूर्ण सम्यक्त्व छूट जाने से वह पतन के गर्त में चला जाता है । तीनों रत्नो में इसे प्रधान रत्न गुण माना है ।

'सत्पुरुषों ने सम्यग्दर्शन को चरित्र व ज्ञान का बीज, यम व प्रशम का जीवन तथा तप व स्वाध्याय का आश्रय माना है ।' (ज्ञानार्णव) इस प्रथम रत्नकी प्रधानता व श्रेष्ठा के गुण शास्त्रों में पाये गये हैं । इसे सभी सुखों का जनक, मोक्ष मार्गका प्रसारक एवं प्रकाशक तत्त्व माना गया है ।

सम्यग्दज्ञान :- वैसे सम्यग्दर्शन के साथ ही जो साम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है । यहाँ भी ज्ञान सम्यक् या सच्चा मार्ग बतानेवाला अर्थात् यथार्थ ज्ञान की बात का निर्देश है । (ज्ञान से अधिगमज) दर्शन निर्मल बनता है । और निर्मल दर्शन या दृष्टि से उत्तम ज्ञान की प्राप्ति होती है । इस दृष्टि से दर्शन और ज्ञान प्रायः साथ साथ ही प्रकट होते हैं । क्षीर नीर को परखने की दृष्टि ही ज्ञान है । ज्ञान में समीचीनता दर्शन के निमित्त से आती है । ज्योंही दर्शन मोहनीय के दूर होने पर) क्षय होने पर) सम्यग्दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राप्त होता है उसी समय मिथ्याज्ञान का भी निवारण हो जाने से सच्चा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जैसे बादलों के हटने पर प्रकाश और प्रताप एक साथ प्रकटते हैं उसी प्रकार दर्शन और ज्ञान भी एक साथ उत्पन्न होते हैं। उन्हें सहचारी माना गया है। इन दोनों के प्रकट होने के बाद ही सम्यक् चारित्र प्रकट होता है।

यदि तत्त्वों में श्रद्धान सम्यग्दर्शन है तो उन्हें जानना ज्ञान प्राप्त करना सम्यग्ज्ञान है। इन्हें नय और प्रमाण दो स्वरों से जाना जाता है। अर्थात अभेद या अखंड ज्ञान प्रमाण ज्ञान है, एवं धर्म-धर्मी का भेद होकर धर्म द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह नय ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानी पुरुष वस्तु को यथातथ्य रुप से सदेह रहित जानता है। वह जिन प्रणीत हेयोपादेय तत्वों का ज्ञानी होता है। पदार्थों के ज्ञान के साथ आत्मा के ज्ञान का भी वह ज्ञ न बनता जाता है।

महापुराण में कहा है-'जैन शास्त्रों का स्वयं पढ़ना' दूसरों से पूछना पदार्थ के स्वरूप का चिन्तवन करना, श्लोक आदि कंठस्थ करना तथा समीचीन धर्म का उपदेश देना ये पांच ज्ञान की भावनाएँ जाननी चाहिए। इतना ही नहीं यह ज्ञान तभी पूर्ण या सम्यक् बनता है जब ज्ञानी पुरुष 'स्वाध्याय का काल जान कर, मन-वचन कर्म से शास्त्र का विनय, यत्न करते हैं पूजा सत्कारादि से पाठादिक करते हैं, गुरु तथा शास्त्र का नाम नहीं छिपाते, वर्णपद एवं वाक्य को शुद्ध पढ़ते हैं, अनेकान्त स्वरुप अर्थ को ठीक ठीक समझते हुए पाठादिक शुद्ध पढ़ते हैं वे ही सम्यग्ज्ञानी ज्ञानाचार के आठ भेदों के ज्ञाता होते हैं।

आचार्योंने इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए कुछ अनुयोग या उपायों का निर्देश किया है, वे हैं निर्देश, स्वामित्व, साधन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिकरण, स्थिति, विधान, सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव एवं अल्प बहुत्व । (तत्त्वार्थ सूत्र अ. अ. ७८)

सम्यग्ज्ञान के पांच भेद किए गये हैं-१. मतिज्ञान २. श्रुतज्ञान ३. अवधिज्ञान ४. मनः पर्यायज्ञान ५. केवलज्ञान । (इन पांच ज्ञान भेदों पर पृथक से पूरा विवेचन किया जा सकता है) यहाँ सिर्फ इतना ही संक्षिप्त में जानें कि- 'इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह मतिज्ञान है । मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ का अवलंबन लेकर मतिज्ञान पुर्वक जो अन्त पदार्थ का ज्ञान होता हैं वह श्रुतज्ञान है । द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की मर्यादाके लिए हुए इन्द्रिय और मन की सहायता के बिनाजो रुपी पदार्थ का ज्ञान होता है वह अवधिज्ञान है । द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की मर्याद लिये हुए जो इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरे के मन की अवस्थाओं का ज्ञान होता है वह मनःपर्याय ज्ञान है तथा जो त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगवत जानता है वह केवल ज्ञान है ।' (तत्त्वार्थ सूत्र-फू. च. सिद्धांत शास्त्री पृ. १९)

सम्यग्ज्ञान के विविध भेद-उपभेद आदि के अध्ययन से इतना स्पष्ट होता है कि आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानना ही ज्ञान है । भेद विज्ञान की समझ प्राप्त होना एवं तदनुसार वस्तु को और आगे बढ कर उपयोगी-अनुपयोगी, ग्राह्य, त्याज्य एवं देय-उपादेय के भेद को समझना ही सम्यग्ज्ञान है । ज्ञानावरण कर्म के क्षय की मात्रा में इसकी प्राप्ति और वृद्धि होती है ।

सम्यक्चारित्र्य- किसी भी वस्तु को जानने और समझने के पश्चात उसपर अमल करना ही पुर्णता है । अर्थात तत्वों का श्रद्धान उनका ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात चारित्र धारण करने पर ही मोक्ष सुख प्राप्त हो सकता है । दर्शन और ज्ञान का प्रायोगिक पक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चारित्र्य है । यों कहा जा सकता है कि दर्शन ज्ञान के बिना चरित्र लूला लंगड़ा है और चरित्र के बिना दर्शन ज्ञान अन्धे से हैं । तीनों का सम्यक रूप से समन्वयन ही मोक्ष मार्ग है । 'तत्त्वार्थ' की प्रतीति के अनुसार क्रिया करना आचरण कहलाता है । अर्थात मन-वचन-कर्म से शुभ कर्मों में प्रवृत्ति करना चरण है । (पंचाध्यायी उत्तरार्ध) भगवती आराधना में स्पष्ट करते हुए कहा है कि-'जिससे हित को प्राप्त करते हैं और अहित का निवारण करते हैं, उसको चारित्र कहते हैं ।...संसार की कारणभूत बाह्य और अंतरंग क्रियाओं से निवृत्त होना चारित्र है ।'

व्यवहार दृष्टि से हमारा बाह्य आचरण भी चारित्र के अन्तर्गत ही है । अर्थात हम जो सोचकर बोलते या क्रिया करते हैं वही हमारा चारित्र है । हमारा आचरण हमें स्वयं को एवं अन्य को सुख दे सकता है एवं दुराचरण दुःख दे सकता है । निश्चय से आत्म प्रदेश पर लगे हुए कषाय आदि मलों को धोना या उनकी तप द्वारा निर्जरा करना ही चरित्र है । जैन शास्त्रों ने इसी निर्वृत्ति मूलक चारित्र की महिमा का स्वीकार किया है । हम श्रावक के १२ व्रतों का पालन करने से इस चारित्र को पालने का प्रारंभ कर सकते हैं और उत्तरोत्तर आन्तरिक व बाह्य तपों द्वारा मोक्षतत्त्व तक गतिमान हो सकते हैं । इसके लिए हमें सर्व प्रथम मन का भटकाव एवं इच्छाओं पर लगाम लगानी होगी । इच्छाओं को रोकना ही तप है । हम दर्शन और ज्ञान से सत्य को समझ चुके हैं । हमें ज्ञान दृष्टि मिल चुकी है-बस अब तो-चारित्रारूढ होकर कर्म ही जलाते हैं । चारित्र धारण में इन्द्रिय संयम की सर्वाधिक प्रधानता है । व्यावहारिक दृष्टि से पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्त चारित्र के भेद है । या इन १३ के सहित चारित्र्य धारण किया जाना चाहिए । क्रमशः व्रतों को धारण करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए परिषह सहन करने की शक्ति बढ़ानी चाहिए ।

सराग चरित्र (व्यवहार) से वीतराग (निश्चय) की ओर उन्मुख होना चाहिए । चारित्र धारी को क्रमशः राग के संस्कार नष्ट करके वीतराग भावों की वृद्धि की निरंतर सेवना करनी चाहिए । सरल भाषा में कहें तो चरित्र धारी अशुभ कर्मों को काटने का प्रयास करता ही है पर शुभ भाव की आकांक्षा भी रखता है, जबकि वीतरागी चारित्र धारी अष्ट कर्मों को जलाकर निर्भार होकर मुक्ति की कामना करता है ।

चारित्र ही मोक्षमार्ग की अंतिम यात्रा है । यही धर्म का सार है अत-'चारित्र खलु धम्मो' कहा गया है । इसी से ही मोक्ष मिलेगा । साधक को इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि सम्यकत्व के बिना किया हुआ तप व्यर्थ होगा । अतः सत्य को सच्चे मार्ग को जानकर आत्मकल्याणार्थ ही तप करना सार्थक है ।

ज्ञानी होना सरल है-पर चारित्रधारी होना कठिन है । बिना चारित्र धारण किए किसी को मुक्ति नहीं मिली । तीर्थंकर के जिव को भी तीर्थंकरत्व तो चरित्रपालन से ही प्राप्त हो सका ।

हम हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील एवं परिग्रह का त्याग करके इसका प्रारंभ करें । प्रत्येक कार्य में सावधानी वर्तो कि कहीं हिंसादि तो नहीं होती । हमारे वचन क्रिया में साम्य हो । इन प्राथमिक चारित्र पालन से प्रारंभ कर शास्त्राभ्यास करते हुए संयम धारण कर वीतराग मुद्रा में स्थित हों । अपने श्वास को रोकना सीखें । दृष्टि नाशापर रखना सीखें । अपने शरीर के स्थित ज्ञान चक्रों को जाग्रत करें । प्रेक्षा ध्यान से दूषित ध्यान को दूर करें ।

इन तीनों का पालन ही कर्मों को नष्ट करता है एवं मोक्ष मार्ग पर आरुढ़ करता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेश्या

(चित्त वृत्तियों का मनोवैज्ञानिक स्वरुप) लेश्या शब्द जैन दर्शन का विशिष्ट शब्द प्रयोग है। इसका संबंध कषाय भावों के साथ है। आधुनिक संदर्भ में इसे मनोवैज्ञानिक भावों को प्रस्तुत करने वाला विशिष्ट शब्द प्रयोग भी कहा जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति में अच्छे और बुरे अर्थात शुभ और अशुभ भावनाएँ रहती ही हैं। उन्हें कषाय की तीव्र या मंद भावनाएँ कह सकते हैं। जैनाचार्यों की यह सबसे बड़ी देना या संकल्पना रही है कि वे मनोभावों के अनुरूप रंगों की कल्पना कर सके हैं। आज के इस वैज्ञानिक युग में जब कि रंगचिकित्सा का विकास हुआ है–एवं प्रयोग भी हो रहे हैं तथा रंग व्यक्ति के मनोरोगों के शमन में सिद्ध साबित हुए हैं, तब लगता है कि पूर्वाचार्यों द्वारा मनोभावों की रंगकल्पना कितनी अद्भुत थी। वे वर्तमान को अतीत (कल) में देख सके थे। आज की रंग–परिचर्या का मूल इन्हीं लेश्या से प्रसूत है। व्यवहारिक जीवन में भी व्यक्ति की भावनाओं के अनुसार उसके चेहरे पर रंगों की तरंगें देखी जा सकती हैं। जैसे,–प्रेम प्रसंग में चेहरे पर लाली दौड़ती है, तो भयंकर गुनाह साबित होने पर कालिख पुत जाती है। हमारे छ मनोभावों को आचार्यों ने षट्लेश्या कहा है। लेश्या की सामान्य परिभाषा करते हुए वे समझाते हैं कि जिसके द्वारा जीव पुण्य–पाप से स्वयंको लिप्त करता है, उनके अधीन रहता है उसको लेश्या कहते हैं। गोमटसार जीवकांड में इसको रूपक में प्रस्तुत करते हुए कहा है–'जिस प्रकार आमविष्ट से मिश्रित गेरु मिट्टी के लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावरूप लेप के द्वारा जो आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है उसको लेश्या कहते हैं ।'

शाब्दिक अर्थ यों किया गया है-'जो लिम्पन करती है उसे लेश्या कहते हैं । अर्थात जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती हैं उसको लेश्या कहते हैं ।' तात्पर्य कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये लेश्या हैं । इन लेश्याओं के मूलतः दो भेद किए गये हैं ।

१. भाव लेश्या २. द्रव्य लेश्या

कषाय से अनुरंजित जीव की मन-वचन-काम की प्रवृत्ति भाव लेश्या कहलाती है । आगम में इनका छः रंगों द्वारा निर्देश किया है । इनमें से तीन शुभ व तीन अशुभ होती हैं ।

शरीर के रंग को द्रव्य लेश्या कहते हैं ।

द्रव्यलेश्या आयुपर्यन्त एक ही रहती है पर भावलेश्या जीवों के परिणामों के अनुसार बराबर बदलती रहती है । सामान्यतः द्रव्यलेश्या के ही छ भेद मानव मन की प्रवृत्ति के प्रतिबिंब हैं ।

(१) कृष्णलेश्या (२) नीललेश्या (३) कपोतलेश्या (४) पीतलेश्या (५) पद्मलेश्या (६) शुक्ललेश्या ।

कृष्ण लेश्या :—कृष्ण अर्थात काला । इस लेश्या का रंग भ्रमर सा माना गया है । काला रंग तीव्रतम कषाय को प्रतिबित करता है । जो व्यक्ति तीव्र क्रोध करने वाला हो, वैर को न छोडे, लड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दया से रहित हो, दुष्ट हो उसके कृष्णलेश्या होती है । कृष्णलेश्या वाला उपरोक्त दुर्गुणों का भंडार होता है । ऐसे व्यक्ति सामान्यतः स्वच्छंद विवेक रहित, इन्द्रियलंपट, मानी मायावी होते हैं । तिलोयपण्णति में कहा है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि कृष्णलेश्या से युक्त दुष्ट पुरुष अपने ही गोत्रीय तथा एक मात्र स्वकलत्र को भी मारने की इच्छा करता है। दया धर्म से रहित, वैर को न छोड़ने वाला प्रचंड कलह करने वाला और क्रोधी जीव कृष्णलेश्या के साथ धूमप्रभा पृथ्वी से अंतिम पृथ्वी तक जन्म लेता है। ऐसा व्यक्ति नरकगामी होता है।

नील लेश्या— जिस प्रकार नीला रंग काले से कुछ कम काला होता है। इसी प्रकार नील लेश्यावाले कषाय या दुष्ट भाव कृष्णलेश्या से कम होते हैं। ऐसे लोग 'अतिनिर्दयालु' प्रपंचनामें दक्ष, धन-धान्यादि के संग्रह का तीव्र लालसी होता है। (पंचसंग्रह) तिलोयपण्णति एव राजवार्तिक में भी इसी प्रकार के चरित्र का निरुपण है। इनके अनुसार ऐसा व्यक्ति विषयाशक्त, मतिहीन, मानी विवेकबुद्धि रहित मायावी, लोभांध एवं लालची होता है। यों कहना ठीक होगा कि कृष्णलेश्या के व्यक्ति के समान ही दुर्गुण वाला होता है, मात्र दुष्टता में आंशिक कमी होती है। उदाहरणार्थ यों कहा जा सकता है कि यदि कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति पूरा वृक्ष उखाड़ना चाहेगा तो यह उसकी डालियाँ काटने तक सीमित रहेगा पर वृक्ष का नाश करना दोनों की ही वृत्ति और प्रवृत्ति होगी।

कपोत लेश्या :— वैसे तो प्रथम तीन अशुभ वृत्तियों में से यह तीसरी अशुभवृत्ति है। पर ऐसी लेश्यावाले व्यक्ति की दुष्टता या भयानता के परिमाण कम होते हैं। शास्त्रों में कहा है कि ऐसा आदमी दूसरों पर रोष करता है, परनिन्दक, दूषण-शोक भय बहुल एवं ईर्षालू होता है। आत्मश्लाघी, अविश्वास होने के साथ घमंडी होता है। जो प्रसंशा का इच्छुक, चापलूसी में माननेवाला कर्तव्याकर्तव्य के भेद से अज्ञान होता है। अर्थात—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'मात्सर्य, पैशुन्य, परपरिभव, आत्मप्रसंशा, परविवाद, जीवननैराश्य, प्रसंशक को धनदान, युद्ध-मरणोद्यम आदि कपोत लेश्या के लक्षण है। (राजवार्तिक) कपोतलेश्या वाला परघातक नहीं होता। यह वृक्ष को जड़ से उखाड़ने या डाली काटने के स्थान पर उसके पत्ते नोचने तक ही कलुषित होता है।

पीतलेश्या :— शुभलेश्याओं में प्रथम पीत लेश्या है। इसका रंग पीला माना गया है। इसे तेजोलेश्या भी कहा गया है। ऐसा व्यक्ति कर्तव्याकर्तव्य के भेद का जाननेवाला एवं सेव्य असेव्य का निर्णय करनेवाला होता है। समदर्शी दया-दान में रत मृदुभाषी एवं ज्ञानी होता है। पीतलेश्या के गुण ही दृढ़ता मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलत्व, स्वकर्मपटुता एवं सर्वधर्म समदर्शी माने गये हैं। ऐसा व्यक्ति वृक्ष की अन्य हानि नहीं करता।

पद्मलेश्या :— पद्म अर्थात कमल के रंगसा सफेद। धवल और कोमल रंग और गुणों वाला। जो व्यक्ति त्यागी, भद्र, सच्चा, उत्तम कार्य करने वाला क्षमा दान देने वाला तथा साधु जनों के गुणों की पूजा करने वाला होता है उसके पद्म लेश्या होती है। जिसके उत्तम गुणों का विकास हो रहा है। समतुला एवं मृदुता जिसके गुण हैं। वह प्रसन्नचित्त होता है। आंखों में करुणा एवं बोली में ममता टपकती है। ऐसा व्यक्ति मात्र उसी फल को तोड़ता है जो उपयोग में लिया जाये। अन्य फलों का नुकशान नहीं करता।

शुक्ललेश्या :— इसका रंग पूर्णशुभ्र। अर्थात निर्दोष होता है। यह उत्तमवृत्ति का परिचायक या संपूर्ण कषाय रहित व्यक्ति का परिचायक है। जो व्यक्ति निंदा पक्षपात से ऊपर उठकर समदृष्टा हो जाता है। जो द्वेष एवं राग दोनों से उठ गया है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसकी रुचि श्रेयोमार्ग में लग गई है उसकी लेश्या भावना शुक्ल या पवित्र हो जाते हैं। अहर्निश करुणा के भाव उस पर रहते हैं। ऐसा व्यक्ति जनकल्याण के साथ आत्मकल्याण की ओर उन्मुख रहता है। वह नीचे स्वतः टपके हुए फलों को ही प्राप्तकर आनन्द का अनुभव करता है।

जो संसार से अलिप्त, अनंतसुखी एवं अयोग केवली सिद्ध जीव हैं वे शुभा-शुभ भाव से युक्त होने के कारण लेश्या रहित होते हैं। मनोभावों कषायभावना की तीव्रता या मंदता की दृष्टि से इनके छः प्रकार किए गये हैं। ये तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मंद, मंदतर एव मंदतम होती हैं। ये लेश्यायें बंध का कारणभाव हैं। जो संसार में भटकनेवाली हैं। शास्त्रों के विधानानुसार प्रथम तीन लेश्या वाले जीव ऐकेन्द्रिय जीव से असंयत सम्यकदृष्टि गुण स्थान तक होते हैं। जब कि शुभ लेश्या वाले जीव संयोगी केवली गुणस्थान के पश्चात् जीव लेश्या-रहित होता है।

वर्तमान युग की नवीन खोजों द्वारा मनोभाव या मनोविकार मनुष्य के चहरे पर विकृति के भाव अंकित करते हैं इसे फोटोग्राफी द्वारा भी अंकित करने का प्रयास किया है। प्रत्येक व्यक्ति के इर्द गिर्द एक प्रभामंडल रहता है। इसका रंग व्यक्ति की भावनानुसार ही बनता रहता है। इसे हम मनोभावों की प्रतिच्छाया कह सकते हैं। ज्योतिष शास्त्र में सामुद्रिक शास्त्र भी गवाही देता है। आज के व्यक्तिका शब्द यही संकेत करता है कि व्यक्ति किसी मनोभाव में जी रहा है। हम देखते हैं कि दुष्ट व्यक्ति का चेहरा अनायास हमें उसके प्रति शंकित या घृणा से भर देता है जबकि सज्जन पुरुष के प्रति हम में सद्भावना जागती है। सचमुच लेश्या जैन दर्शन की महत्त्वपूर्ण चर्चा है।

*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खण्ड–२

आराधना पक्ष

आराधना की आवश्यकता

प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक धर्म में दर्शन पक्ष से अधिक लोग आराधना पक्ष पर जोर देते हैं। परंतु, आराधना शब्द को भी पर्याय वे क्रियाकांड या मात्र बाह्य क्रियाओं को मान लेते हैं। उन्ही में संतोष मानते हैं। इन्ही से धार्मिक होने का प्रमाणपत्र प्राप्त करते हैं। कभी यह आराधना जो साधना या तपस्या या आत्मा में लीन होकर परमात्मपद तक हमें ले जाने वाला तत्व था, जिसमें दर्शन और ज्ञान के साथ चारित्र साधना की महत्ता थी। समझदारी पूर्वक भेद-विज्ञान की दृष्टि से ही आराधना की जाती थी। बाह्य तप की सीढ़ी से चढ़कर आँतरिक तप की ओर उन्मुख हुआ जाता था। परंतु कालांतर में यह आराधना क्रियाकांड का पर्याय बनती गई। पूर्ण तथ्य जाने बिना ही लोग क्रियायें करते रहे। ज्ञान या आत्माको परखने का, मुक्तिका उद्देश्य भुलाया जाता रहा और लौकिक एषणा ही इस क्रियाकांड का उद्देश्य रह गया। ज्ञान बिनाकी एसी आराधना मुक्ति की ओर तो क्या सांसारिक सुख भी नहीं दे सकती। आराधना द्वारा कषायों से मुक्त होने के स्थान पर हम कुछ भले बुरे के लिए आराधना करने लगे, व्रत अनुष्ठान करने लगे परिणामतः उलटे कषाय बांधने लगे।

उपरोक्त स्पष्टता का आशय इतना ही है कि हमारी आराधना रुढिगत, मात्र परंपरा का निर्वाह या लोकेषणा की प्राप्ति के लिए नहीं अपितु, उसका लक्ष्य इस संसार से मुक्त होने के लिए– निष्काम हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलतः इस आराधना को लेकर ही व्यवहार या निश्चय के मापदंड स्थिर किए जाते हैं। यह सत्य है कि निश्चिय अर्थात आत्मा के मूल स्वरुप को जान पहचान कर उसकी ही उन्नति करने का प्रयास आराधना का मूल लक्ष्य होना चाहिए। परंतु उस आत्मा को परखने के लिए चित्त की दृढ़ता आदि व्यवहारिक मार्ग भी आवश्यक है। प्रथम अगर साध्य है तो दूसरा साधन है। साधन के बिना साध्य की उपलब्धि असंभव है। अतः यहां हम आराधना के व्यावहारिक पक्ष का विशेषरुप से विवेचन करेंगे। परंतु, उसमें भी ध्यान तो यही रखना कि हमारी ये क्रियायें स्थापित्व की प्राप्ति, मनकी शुद्धि एवं बाह्य जगत से आत्मा अंतर जगत की ओर प्रयाण करने के लिए ही है। सांसारिक भौतिक सुखों के लिए नहीं।

देवदर्शन :

आराधना का प्रथमचरण देवदर्शन है। यद्यपि जिन सम्प्रदाय या अम्नायें में मूर्तिपूजा नहीं, वहां नामस्मरण भी इसी पूज्य भाव या श्रद्धा-भक्ति से लिया जाता है। कई लोग मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं—कई इन पत्थरों में क्या रखा है—भी कह देते हैं। मंदिर जाने से क्या ? मनमें ही मंदिर है। वगैरह...वगैरह...। ऐसे विधान उनके अपरिपक्व मन या विचारों के कारण ही प्रकट होते हैं। कभी—कभी उनका ग्रंथिभाव भी कारण भूत होता है। जब कभी कोई व्यक्ति स्वार्थसिद्धि हेतु देवदर्शन-पूजन करने जाता है और वाँछित फल नहीं मिलता है तब वह क्रोध से भर उठता है। अनास्था के बीज पनप उठते हैं। और वह दर्शन—पूजन का विरोधी हो जाता है। यदि उसे यह ज्ञान होता कि मुझे अपने कर्मों का फल भोगना पड़ेगा—या पड़ रहा है। मेरी आराधना का उद्देश्य तो उचित कर्मों में समता—क्षमता भाव रहे। अन्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अशुभ कर्म न बंधे तो उसमें ऐसे अनर्गल भाव जन्म न लेते ।

मंदिर और मूर्ति की कल्पनाहीं हममें एक नए वातावरण का बोध भर देती है । मंदिर, अर्थात देवस्थान । जहाँ गृहस्थ जीवन की कोई झंझट नहीं । ज्ञान-वैराग्य का स्रोत जहाँ प्रवाहित है । मनकी शांति के लिए जहाँ वातावरण की शांति है । पवित्रता का जहाँ साम्राज्य है । हम जिस शांति, वातावरण को घर में नहीं पा सकते वह मंदिर में मिलती है । अतः मंदिर आराधना का एक केन्द्र बन जाता है ।

इसी प्रकार मूर्ति को देखकर हमें उन महापुरुषों के गुण, लोकोपकारों एवं आत्मोपकारी कार्यों का स्मरण होता है । विशेषकर जिनमूर्तियां ही विश्व में ऐसी हैं जो पूर्ण योग मुद्रा में प्रतिष्ठित होती हैं । जिनका पद्मासन होकर पूर्ण स्थिरता से बैठा होना-दृष्टि का नासा पर होना एवं चेहरे पर प्रसन्नता का भाव होना बड़ा ही मनोहारी रुप होता है । ऐसी योगमुद्रा से आप देख सकते हैं कि पांच हाथ की उंगलियों का निरंतर शरीर के साथ जुड़ा रहना एवं चित्त की एकाग्रता यह बताते हैं कि मनुष्य में निरंतर उत्पन्न ऊर्जा शरीर में ही डायनेमा की भांति उत्तरोत्तर बढ़ रही है । हम जिस ऊर्जा की बातें करके, हलन चलन आदि जीवन के व्यवहार द्वारा नष्ट कर रहे हैं वही ऊर्जा इन तपस्वियों ने केन्द्रित करते वह शक्ति प्राप्त कराली जिससे वे अनेक बाह्य कष्टों में भी ध्यान में आराधना से भी हिमालय से दृढ़ बने रहे । उन्हें बाह्य उपसर्गों तक का पता न चला । कब शरीर पर बेलें चढ गईं कब जीवों ने घर या घोंसले बना दिए, कब सियारिनी शरीर को खाती रही या कब भयंकर आंधी तूफान का उपद्रव होता रहा-उन्हें पता ही नहीं चला । क्योंकि वे तो अन्तर की ऊर्जा के धनी आत्मा में ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लीन हो गये थे । अपनी श्वास और नाडीतंत्र पर उनका प्रभाव था ।

दर्शन करते समय हमें यही सीखना है कि हे देव ! जैसे तुमने इस अलौकिक शक्ति को प्राप्त किया था मैं भी उसी को प्राप्त करने को सक्षम बनूं । जैसे आत्माको जानने के लिए तुमने संसार को त्यागा–मै भी वैसे ही प्रगति करूं । मुझमें कष्ट सहने की शक्ति बढ़े समता बढे मेरी लोकेषणा शांत हो । यदि हम दर्शन करते समय यह मांगते हैं तो हमारी माँग भी योग्य है और दर्शन करने का महत्त्व भी है । अन्यथा दिखावा है ।

दर्शनमंत्र :–(णमोकार मंत्र) जैनो का महामंत्र 'णमोकार मंत्र' विश्व व्यापी या ब्रह्मांड के प्राणी मात्र के लिए उपयोगी है । यद्यपि आज यह जैनों का मंत्र बन गया है–पर इसको समझने पर लगेगा कि यह मंत्र उस हर प्राणी का है जो आत्मकल्याणकारी मार्ग पर आरुढ़ होना चाहता है । नमस्कार व्यक्ति को नहीं-शक्ति को, ज्ञान को किया गया हैं ।

णमो अरि (अर) हंताणं ।
णमो सिद्धाणं ।
णमो आयरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं ।
णमो लोए सव्व साहूणं ।

प्रथम पद में हमने उन्हें नमस्कार किया है जिन्होंने अपने 'अरि, दुश्मनों का विनाश किया है । यहाँ दुश्मन और विनाश शब्द संसार की अपेक्षा से नहीं है । अन्यथा वह व्यक्ति नमस्कार का अधिकारी हो जायेगा जिसके हाथ में लाठी होगी । यहाँ दुश्मन हैं–आत्मा के साथ अनंत युगों से चिपके हुए क्रोध-मान-माया लोभ आदि कषाय । द्वेष और राग आदि भाव । ये सब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार में भटकाने वाले तत्त्व हैं। जिन्होंने अपनी तपस्या द्वारा आत्मा का हनन करने वाले इन दुश्मनों का विनाश कर दिया है। अर्थात जो साम्य दृष्टा, संसार से मुक्त होने की क्षमता वाले हैं। उन्हें ही अरिहंत कहा गया है। वे ही तपस्वी नमस्कार के योग्य हैं। तीर्थंकर (अरिहंत भगवान) की बड़ी सरल व्याख्या की गई है। जो संसार सागर को स्वयं पार करते हैं और अन्य जीवों को पार कराते हैं। जिनको केवलज्ञान (सर्वज्ञान) प्राप्त हो गया है। वे ऐसे श्रेष्ठ मुनि होते हैं जो संसार में भटकते लोगों को मोक्षमार्ग का दर्शन कराते हैं, उस ओर उन्मुख करते हैं। अठारह दोषों से मुक्त होते हैं। जिनके पंचकल्याण मनाये जाते हैं। जो नियमतः घातिया-अघातिया कर्मों का क्षय कर मुक्ति प्राप्त करते हैं। ऐसे मोक्षगामी तीर्थंकरों को नमस्कार करते हैं। हम उन महान आत्माओं के गुणों की पूजा करते हैं जिन्होंने जन्म-मरण-रोग पर विजय प्राप्त कर ली है। जिनका चतुर्गति-भ्रमण नष्ट हो गया है। जिन्होंने पुण्य और पाप को उत्पन्न करने वाले कर्मों का संपूर्ण क्षय कर लिया है। शास्त्रीय भाषायें कहें तो जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अंतराय कर्मों का नाश किया है। जिन्होंने क्रोध, मान, माया और लोभ कषाओं को जीत लिया है। इन्हें जीतकर जो 'जिन' बने हैं। तात्पर्य कि जिनकी मूर्ति को देखते ही हमारे मन में त्याग, वैराग्य, एवं सद्वृत्तियों का भाव पैदा हो। ऐसे अरिहंतों को नमस्कार है।

दूसरे चरण में 'णमो सिद्धाण" कहते समय हम अरिहंत के ही उस स्वरुप का स्मरण और वंदन करते है जिन्होंने अष्ट कर्म जीतकर पूर्ण सिद्धत्व प्राप्त कर, मोक्ष में निवास किया है। अर्थात जब अरिहंत सिद्धशिला पर प्रस्थापित हो जाते हैं-तब सिद्ध बन जाते हैं। वे अशरीरी हो जाते हैं। सिद्धही निरंजन निराकार हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्म-मरण से सदैव को मुक्त ऐसे सिद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान को प्राप्त करते हैं ।

प्रश्न हो सकता है कि अरिहंत और सिद्ध में क्या भेद ? उत्तर यों होगा कि जिन्होंने चार घातिया कर्मों का क्षय कर केवल ज्ञान प्राप्त किया है । जो संसार को सन्मार्ग में मार्गदर्शन देते हैं । जो स्व के साथ पर के उपकार का मार्ग प्रशस्त करते हैं । जबकि ये ही अरिहंत सब शेष अघातिया कर्मों का नाश कर समाधिस्थ होकर मोक्ष पाकर सिद्ध शिला पर स्थायी हो जाते हैं तब सिद्ध बन जाते हैं । वैसे इतना ही भेद कहा जा सकता है कि एक शरीरी हैं दूसरे अशरीरी ।

'णमो आयरियाणं' अर्थात् आचार्यों को नमस्कार करते हैं । आचार्य अध्यापक एवं मुनि वर्ग के बारे में जैनधर्म में बिशेष सूक्ष्मता से प्रतिपादन हुआ है । यह भेद-विभेद आचार की अपेक्षा से किया गया है । आचार्य अर्थात 'जिन' द्वारा प्रणीत मार्ग का वह उच्च साधना में स्थित साधू जो अन्य साधुओं को दीक्षा प्रदान कर सकता हो । उनके दोषों का निवारण कर सकता हो । अपने विशिष्ट गुणों से वे मुनिसंघ के नायक होते हैं । वीतरागता के कारण इनका पंचपरमेष्ठी में स्थान होता है । ऐसे मुनि पांच प्रकार के आचार, विचारों का (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य एवं तप) पालन करें व करावें । शिष्यों को वीतराग मार्ग का उपदेश दें । इनके आचार अन्य साथी साधुओं के लिए अनुकरणीय बनते हैं । धवला में कहा है-'प्रवचन रूपी समृद्धि-जल के मध्य भाग में स्नान करने से अर्थात परमात्मा के परिपूर्ण अभ्यास और स्वानुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल बनी है । जो मेरु की भाँति अडोल हैं, शूरवीर हैं सिंह की तरह निर्भीक हैं जो देश कुल जाति से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्ध और सौम्य हैं । अंतरंग और बहिरंग परिग्रहों से रहित हैं । आकाश की भाँति निर्लेप हैं–वे आचार्य परमेष्ठी होते हैं । जो ज्ञान में एव प्रायश्चित देने में कुशल हैं । आगम के ज्ञाता हैं । आचरण और व्रतों की रक्षा में निरंतर उद्यत हैं–वे आचार्य परमेष्ठी हैं जो चौदह विद्याओं में पारंगत, ग्यारह अंग के धारी, आचरांग के धारी और दोष रहित हैं–वे आचार्य हैं भगवती आराधना में छत्तीस गुणों का उल्लेख किया है तात्पर्य कि ज्ञान, तपस्या एव वीतरागता में जो दृढ़ हैं उनको नमस्कार करते हैं ।

'णमो उवज्झायाणं' में हम उपाध्याय को नमस्कार करते हैं । भी वे ये उपाध्याय मुनि हैं जिन्होंने कर्मदहन के लिए उग्र तपस्या की है । ऐसे मुनि जिनवर कथित रत्नमय धर्म के उपदेशक होते हैं । सरल भाषा में कहें तो वे अध्यापक मुनि हैं जो जिनवाणी का उपदेश करते हैं । नवदीक्षित मुनियों को शास्त्राभ्यास कराते हैं । सच्चे ज्ञान से मुमुक्षुओं को सन्मार्ग का दर्शन कराते हैं । जिन-देवने जिन बारह अंग और चौदह पूर्वों को स्वाध्याय कहा है–उस स्वाध्याय की ओर उन्मुख करते हैं । इस कारण वे उपाध्याय की श्रेणी में हैं । ऐसे उपाध्याय शास्त्र ज्ञाता मुनिओं के पास भव्य (जिज्ञासु) जन विनयपूर्वक श्रुत का अभ्यास करते हैं । ये मुनिगण मात्र ग्रह और अनुग्रह गुणों के अलावा आचार्य के समस्त गुणों के धारक होते हैं । लोगों के मन में अद्भुत शंकाओं का निवारण करते हैं । ये आगमों के ज्ञाता–व्याख्याता होते हैं । उत्तम वक्ता होने से जन–जन को जिनवाणी से प्लावित करते हैं ।

पंचम चरन 'णमो लोए सव्व साहूणं' में सभी साधुओं की वंदना की गई है । वैसे आचार्य–उपाध्याय प्रथम तो साधू ही हैं । वे ही इस साधुता के गुणों का उत्तरोत्तर विकास करके उच्च श्रेणी तक पहुँचते हैं । साधु का अर्थ ही है कि जिसने साधना की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धूनी रमाई हो । जो आत्मरत या आत्मा में लीन होने को निरंतर प्रयत्नशील हो । सन्यासी का मतलब ही है कि जो सत् को न्यास के रुप में–अर्थात आत्मा के सच्चे स्वरुप को देखने समझने का प्रयास करे मुनि भी वही है जो मौन भाव को धारण कर आत्मरत हो रहा है । चारित्र के रुप में पंच महाव्रत, पंचसमिति एव अट्ठाईस मूलगुणों का धारक चारित्रपालक हो । यद्यपि आचार्य, उपाध्याय एवं साधू चारित्र धारण की दृष्टि से समान ही हैं । परंतु संघकृत कार्य एवं चारित्र की उत्तरोत्तर प्रगति से उपर की श्रेणियों में विभाजन किया गया है । साधू अन्य साधू को उपदेश या दीक्षा नहीं देता । पर, स्वय चारित्र की दृढ़ता में लगता है व धर्मावलंबियों को प्रोत्साहित करता है । धवला में कहा है–'जो सिंह-सा पराक्रमी, हाथी-सा स्वाभिमानी, वृषभ-सा भद्र प्रकृतिवाला, मृग-सा सरल, गोचरी वृत्तिवाला सूर्य-सा तेजस्वी, सागर-सा गंभीर मेरु-सा अडिग, चन्द्रमा-सा शांतिदायक: मणि-सा प्रभा पुँजधारी समस्त कष्टों को सहने वाला, सांप की भाँति अनियत वसतिका में निवास करने वाला, आकाश-सा निर्लेप एवं अहर्निश परमपद की प्राप्ति का अन्वेषण करने वाला साधू है । जो, निरारम्भी निष्परिग्रही ज्ञान ध्यान में रत तत्व में श्रद्धावान होता है ।

ऊपर हमने जिन पंचमरमेष्ठी को नमस्कार किया । जिनके नाम एवं पदगत लक्षणों को जाना, इससे यह स्पष्टता होती है कि यह मंत्र व्यक्ति का नहीं गुणो का मंत्र है । इसकी दृष्टि अतिविशाल है । उपरोक्त लक्षण जिस देव या गुरु में हों वे सभी वंदनीय हैं । इस दृष्टि से यह मंत्र मात्र जैनों का नहीं–प्राणी मात्र का हो सकता है । इसमें व्यक्ति से अधिक गुणों की वंदना आराधना है । हम इन गुणों की प्राप्ति के लिए ही मंत्र का जाप करें ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुझे लगता है कि इस मंत्र के जाप या स्मरण से तुरंत मोक्ष या लाभ मिले या न मिले परंतु शुद्ध मन एवं शुद्ध आचरण की प्रेरणा अवश्य मिलती है। विकल एवं द्विधायुक्त मन को स्थिरता प्राप्त होती है। सद्विचारों की दिशा मिलती है। मानवता के गुणों का विकास होता है। अन्तर की दुर्भावनाओं को सन्मार्ग पर मुड़ने की शक्ति मिलती है। इस प्रकार आज के आदमी को 'मन की शांति' का जो सच्चा सुख चाहिए—वह अवश्य मिलता है। मन की शांति ही संयम की ओर ले जा सकती है। वही साधना में आरुढ़ करनेवाली शक्ति है।

हमारे वर्तमान जीवन की सबसे बड़ी समस्या मानसिक अशांति एषणा और भौतिक सुखों के लिए भटकाव है। सारे दुखों की जड ही ये भावनाएँ हैं। यदि मन को शांति मिल जाये तो फिर समस्या या संघर्ष रहें ही कैसे ? इस मन को शांति इस मंत्र से अवश्य मिल सकती है। हम मंत्र को रटते हैं-मूर्ति के सामने घंटों खडे रहकर सांसारिक सुखों को मांगते हैं। मूल में ही भूल करते हैं। यही कारण है कि हम दुःखी रहते हैं—शांति नहीं मिलती। मांगे तो मन की शांति—सांसारिक लोभ या लाभ नहीं।

यह मंगलमंत्र सर्व पापों का नाशक, मंगलकर्ता है। जो इसका श्रद्धा स्मरण करेगा वह अवश्य जिन पंथ का पथिक बन सकेगा।

पूजा : महत्ता एवं विधि

इससे पूर्व हम देवदर्शन एवं नमस्कार मंत्र की महत्ता का विचार कर चुके हैं। इस मंत्राराधना से हमारे चित में स्थिरता, एकाग्रता हो जाती है। अब हम आराधना की प्रथम श्रेणी पूजा की ओर अग्रसर होते हैं। 'पूजा' का सामान्य अर्थ ही है—पूजा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावों की उद्भावना एवं ऋजुता का प्रादुर्भाव । जब अहम् का तिरोहण हो जाता है तभी हम पूज्यभावों की सरलता से हल्के-फुल्के एवं प्रसन्न होने लगते हैं । निरंतर एक ही भाव हीलोरे लेने लगता है कि तहो ! मैं निर्भार होकर प्रभू की भक्ति, आराधना में लीन होऊँगा । वीतराग देव के चरणों में नतमस्तक होकर गुणगान करूँगा । इस प्रकार के भाव चित्त में उपत्न होते ही अंदर की ग्रंथियों का स्राव स्वतः बदल जाता है । निरर्थक विचारों का तिरोहण हो जाता है । सर्व कल्याण के भाव जागने लगते हैं। विचारों का यह परिवर्तन शरीर विज्ञान एवं मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत बड़ा परिवर्तन है । इस प्रकार आत्म शांति का पहला द्वारा खुलता है-पूजा के लिए प्रस्तुत होने की भावना भाने से ही ।

गृहस्थ के षट्कर्मों में प्रधान कर्म या कर्तव्य के रुपमें पूजा को स्थान मिला है । इस राग-द्वेषमय संसार में अनेक आरंभ और परिग्रहों से ग्रस्त-गृहस्थ जब इन वीतरागी पंचपरमेष्ठी प्रतिमाओं के आश्रय में अपने सद्भावों को पूजा के रूप में लेकर पहुँचता है । शुद्ध भावों से पूजा में लीन होता है तो उसके असंख्यात बद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाती है सच्चा श्रावक ही वह है जो देव-शास्त्र एवं गुरु की पूजा करता है । अर्हत देव की वह मंत्रसिद्धि के प्रतीक बाजाक्षरों द्वारा आह्वान करता है । अपने निकट सान्निध्य में उनकी कल्पना करके उन जैसाही बनने की संकल्पना करता है । वह सिद्धों का स्मरण करता है और उस सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए वर्तमान में जो अर्हत स्वरुप हैं-उन आचार्य-उपाध्याय एवं साधुओं का आहवान करता है । पूजा किसी संसारी सुख के लिए नहीं की जाती, अपितु संसार के आरंभ, परिग्रह जैसे कार्यों-भावों की तिलांजलि के लिए की जाती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुजारी अर्थात भगवान के गुणगान उनमें क्रमशः तल्लीन होता हुआ आत्मार्थी मुमुक्ष भगवानमय और आगे बढ़कर आत्ममय बनता जाता है। पुजन का उद्देश्य कभी भी भौतिक सुखों की उपलब्धि नहीं होती–क्योंकि मोक्ष-स्थित तीर्थंकर जो मुक्तात्मा हैं वे इस लेन-देन से सर्वथा मुक्त हैं। परंतु, पुजा से जो सबसे बड़ी उपलब्धि है–वह है आत्मशांति। पुजक कृत, कारित और अनुमोदना के साथ निरंतर वीतराग के गुणों का चिंतवन करते हुए, इस आत्मा को निरन्तर दुःखी बनाने वाले कषायों को मंद से मन्दतम् बनाने का प्रयास करता है। दूषणों का विलय करता है। करुणा-मैत्री से प्लावित बनता है–प्राणीमात्र के प्रति दयावान बनता है। इन गुणों के प्रकट होने पर उसे मानों सर्वस्व मिल जाता है। इन मानसिक शांति के सामने संसार का धन क्या बराबरी कर सकता है! पूजा से अशुभ कर्मों का क्षय होता है। शुभ अर्थात परोपकारी भाव जन्मते हैं। सच्चा पुजारी ही आज की विश्वशांति और आत्मशांति प्राप्त कर सकता है।

पूजा विधि :–

सर्वप्रथम श्रावक को प्रातःकाल नित्यक्रिया से निवृत्त होकर, शुद्ध वस्त्र धारण कर, अष्ट मंगल द्रव्य लेकर मन्दिरजी में जाना चाहिए। मन्दिर जाने की भावना से ही उसके हृदय कमल पर स्थित पंचपरमेष्ठी के ध्यान की कलियाँ मुकुलित हो जानी चाहिए। मन्दिर में पहुँचकर पाद-प्रक्षाल के पश्चात ऊपर निर्देशित विधि के अनुसार दर्शन करने के पश्चात पूजन को तैयार होना चाहिए। पुजा के वस्त्र स्वच्छ, संभव हो तो खादी के सफेद या केशरी रंग के होने चाहिए। यह अनुभव-सत्य है कि वस्त्रों का मनोभावों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। शुद्ध वस्त्र सात्त्विक भावनाओं के जनक हैं। इस प्रकार तैयार होकर सर्वप्रथम प्रक्षाल करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रक्षाल क्यों ?

सामान्यतः आजका बुद्धिवादी यह प्रश्न कर सकता है कि प्रक्षाल क्यों किया जाता है। मूर्ति को नहलाना कौनसा पुण्य है परन्तु इस प्रक्षाल का अर्थ न तो मूर्ति का नहलाना है और न ही उसको चमकीला बनाये रखना है। परन्तु प्रक्षाल की क्रिया को भावनागत इस प्रतीक के माध्यम से समझाया जा सकता है कि अभिषेक द्वारा भक्त स्वयं के कर्ममल रुपी रजकणों को भक्ति रुपी जल से साफ करता है। अनन्त कर्मवर्गणाओं से आच्छादित या मलीन आत्मा को ही अंतरंग में साफ करता है। क्रिया उसकी बाह्य होती है—पर चिंतवन आत्मा में इस प्रकार चलता है। साथ ही तीर्थंकर के जन्मकल्याणक को मूर्त स्वरूप में निहारता है। वह उस जन्माभिषेक का साक्षात्कार करता है जिनमें नवजात शिशु तीर्थंकर को इन्द्रादिक देव पांडुकशिला पर ले जाकर उनका अष्ट सहस्र कलशों से अभिषेक कर धन्यता का अनुभव करता है। भक्त पुजारी भी इसी भावना से प्रक्षाल या अभिषेक कर धन्यता का अनुभव करता है। वह भावना करता है कि उसके कर्म-मल धुल रहे हैं। यह अभिषेक जल के उपरांत दूध, दही, घी एवं इक्षुरस से मिलाकर पंचाभिषेक रुप में भी किया जाता है। व्यवहार से मूर्ति का अभिषेक होता है—पर, निश्चय से आत्मा का ही प्रक्षालन होता है।

पूजा के प्रकार :—

पूजा के मुख्यतः दो प्रकार माने गये हैं-१, व्यवहार पूजा २. निश्चय पूजा। यहां हमारा प्रतिपाद्य व्यवहार पूजा एवं विधि से है-अतः उसी की चर्चा करेंगे। हाँ ! निश्चय पूजा से इतना तो जान ही लें कि व्यवहार पूजा में स्थिर साधक उत्तरोत्तर आगे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बढ़कर निश्चय या आत्मपूजा में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही आत्मपूजा में प्रतिष्ठित होना मुक्ति की ओर अग्रसर होना है। व्यवहार पूजा का उद्देश्य मात्र पुण्य बंध नहीं है-क्योंकि पुण्य भी बंध है। उस बंध से भी आत्मा को मुक्त होना है। इस व्यवहार पुजा का अर्थ क्रमशः निश्चय पुजा अर्थात आत्मपुजा में प्रवेश करने की प्रक्रिया ही समझनी चाहिये। निश्चय पुजा साधक की वह प्राप्त अवस्था हैं जहाँ वह इस स्थित में पहुँच जाता है कि जो परमात्मा है। वह मैं हूँ। मैं हू वही परमात्मा है। यह अद्वैत भाव पनपता है। मैं ही अपनी उपासना का योग्य पात्र हूं। इस प्रकार आराधक और आराध्य कर एकत्व भाव सधता है। मन-भगवान आत्माराम के सान्निध्य का अनुभव करता है। समरस बनता है।

व्यवहार पुजा भी मुख्य दो रूपें में की जाती है-(१) भावपुजा (२) द्रव्य पुजा।

वसुनंदी श्रावकाचार में पुजा के-नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव छह भेद किए हैं। इन भेदों की चर्चा यथास्थानें पर चलती रहेगी।

भावपूजा में पुजा करनेवाला अष्ट मंगल द्रव्य से भगवान की पुजा नहीं करता, परन्तु मन में ही अर्हत भगवान के गुणों का चिन्तवन करता है; और सूखे द्रव्य चावल आदि से पुजन करता है। बीस पन्थ में केसर से, श्वेतांबर आम्नाथ में केसर या वासक्षेप से पुजन करते हैं।

द्रव्यपुजन में साधक द्रव्य (अष्ट प्रकार की) से भगवान की पुजा करता है। प्रश्न हो सकता है कि जब एक ही गुणगान, चिंतवन करना है तो फिर द्रव्य सें करो या भाव से-क्या फर्क पड़ता हैं? मूल तो गुणगान करना ही हैं। मेरा अनुमान यह है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि आचार्य, पण्डितों ने द्रव्यपूजन को ही महत्त्व दिया होगा पर समयाभाव, शक्ति की मर्यादा, स्थान आदि को ध्यान में रखकर भाव पूजा को भी स्वीकृति दी होगी। कम से कम पूजा नहीं करने से तो किसी माध्यम से पूजा की जाये यह मूल-भाव रहा होगा।

द्रव्यपूजन जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप-धूप एवं फलों को अर्पित करके की जाती है। यहां प्रत्येक द्रव्य को मात्र भौतिक पदार्थ समझने पर इसके महत्व से परिचित नहीं हुआ जा सकेगा। प्रत्येक पदार्थ प्रतीक के रूप में ही स्वीकार किए गये हैं। ये हमारी मनोभावना के प्रतीक हैं। प्रत्येक द्रव्य के साथ भक्त भगवान के गुण कथन तो करता ही है परन्तु उसका उद्देश्य उस द्रव्य के समर्पण के साथ कर्मों का क्षय या समर्पण भी होता है। 'तिलोयपण्णति' में बड़े ही सुन्दर ढंग से कहा है कि देव भगवान की पूजा झारी, कलश, दर्पण, छत्र एवम् चँवर आदि द्रव्यों से तथा स्फटिक-मणिमय उत्तम जलधारा से, सुगन्धित केसर, मलयानिल चन्दन और कुमकुम से, मोती से अखण्ड अक्षत से, जिनका रंग और सुगन्ध सर्वत्र व्याप्त है ऐसे पुष्पों से अमृत तुल्य उत्तम व्यंजनों से, सुगन्धित धूप युक्त रत्नमयी दीपक से और उत्तम फलों से पूजन करते हैं। इस पूजन सामग्री के साथ पृथक-पृथक श्लोकों द्वारा भक्त यही भावना भाता है कि हे जिनेन्द्र भगवान! उत्तम जलधारा से मेरे पाप रूपी मैल धुल जायें। मेरी आत्मा निर्मल बने। यह निर्मलता ही मनुष्य की सरलवृत्ति का परिचायक है। चन्दन के लेप से मैं संसार के ताप से शांति का अनुभव करूँ-अर्थात् भौतिक लालसाओं से उद्विग्न मन को निस्पृहता की शांति प्राप्त हो। 'अक्षत' मुझे जन्म-मरण के आवागमन से निकालकर अक्षय अनन्त सिद्ध पद की ओर उन्मुख करके प्रस्थापित करें। 'चन्दन' का भाव यह प्रेरणा देता है कि ससार के त्रिताप,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिव्याधि से मुक्त होकर आत्मसुख की शीतलता प्राप्त करूँ। पुष्पों का समर्पण यही प्रेरणा देता है कि संसार के दैहिक भोगविलासों में डूबा मैं काम बाणों से विद्ध हूँ—इस काम के कीचड़ से ऊपर उठकर मैं कमल-सा उर्ध्वगामी आत्मस्वरूपी बनूँ। ब्रह्मचारी अर्थात दैहिक सुख से ऊपर उठकर ब्रह्म अर्थात् आत्मा में चरनेवाला निवास करनेवाला शुद्ध स्वरूपी बनूँ। पूजारी यह स्मरण करते हुए कि इस संसार में अनेक योनियों में जन्म-मरण के चक्कर में फँसा रहा' अनेक भोग्य पदार्थों को खाकर भी तृप्त नहीं हुआ। मेरी पेट और शृंगार की क्षुधा कभी शांत नहीं हुई। इस पेट की भूख और पदार्थों की भूख या तृष्णा के लिए मैंने अनेक कुकर्म किए। वह यह संकल्पन करता है कि हे भगवान! अब इस भूख से छुटकारा दिलवाकर अक्षयपद प्राप्त कराओ—जिससे यह सभी भूखें मिट जाये'। यह जीव अनादि-अनन्त से भ्रम, मिथ्यात्व के कारण संसार, जन्म-मरण आदि के अंधकार में भटक रहा है। सत-असत को परख ही नहीं सका। हे प्रभु! आप जिस प्रकार केवल ज्ञान रूपी दीपक से प्रकाशित होकर झिलमिला रहे हो उसी तरह मेरा आत्मदीप भी प्रज्वलित बने मैं आत्मप्रकाश के आलोक में मोक्ष मार्ग ढूँढ़ सकूँ। इसी भावना के आलोक में दीप समर्पण करते हैं। धूप-पुजा यही निर्देश करती हैं कि यह जीव या मैं अष्ट कर्मों से बद्ध हूँ। ये इतने जटिल होकर चिपके हैं कि स्वयम् में स्थिर नहीं रहने देते। ऐसे कर्मों का विनाश हो। 'फल' पुजा करते समय साधक उत्तम मोक्ष पद प्राप्ति की भावना करता है। उसे सिद्धत्त्व की कामना है।

इस प्रकार इन भावनाओं के संदर्भ में एकचित्त होकर यदि पुजन की जाये तो निश्चय से पुजारी या भक्त या साधक उत्तम पुण्य-लक्ष्मी को प्राप्त करता है। इससे उसे उत्तम कुल, गति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर, धन–धान्य स्वतः प्राप्त होते हैं । परंतु, इन प्राप्ति से भी वह निर्मोही रहता है । इन्हें पर द्रव्य समझता हुआ निश्चय पूजा अर्थात आत्मा में ही रमण करता है । व्यवहारिक दृष्टि से इन भावों सहित पूजा करनेवाला मानव वृत्ति में सरल, विचारों में स्वच्छ और आचरण में सात्विक होता है ।

आरती :–

आरती का प्रचलन कब और कहाँ से हुआ इसके विषय में अनेक लोग अनेक प्रकार का इतिहास प्रस्तुत करते हैं । यहाँ हमारा प्रतिपाद्य इतिहास में न होकर आरती के अन्तर्गत निहित भावना से है । भारतीय धर्मों में प्रायः प्रातः–काल एवं सायंकाल आराध्य की आरती उतारने का प्रचलन है । दीप जलाकर हम इष्टदेव या आराध्यदेव की स्तुति या गुणगान गाते हैं । सस्वर गाजे-बाजे के साथ आरती–गायन करते हैं । प्रश्न हो सकता है कि आरती क्यों करते हैं ? सामान्यतः अर्थ यों किया जा सकता है कि आर्त या दुखी भावों से या दुखों से छुटकारा पाने के लिए किया गया ईश्वर या आराध्य का गुणगान । दीप जलाने के अन्तर्गत यह भाव रहा होगा कि हे प्रभु मैं दुःखी हूँ । जिस प्रकार प्रज्वलित दीप अंधकार का विनाश करता है । उसी प्रकार आपकी भक्ति रुपी दीपशिखा से मेरा दुख दूर हो–दुख रुपी अंधकार का क्षय हो । 'दीपशिखा' की अग्नि सूर्य का प्रतीक है । अर्थात् सूर्य की तरह प्रकाश, ओज एवं शक्ति देनेवाला तत्त्व है । आराध्य स्वयं सूर्य से तेज पुजवान है । उनके इसी तेज तत्त्व का मुझमें अवतरण हो–ऐसी भावना रहती है । मनुष्य संसार के त्रिविध दुखों से पीड़ित है । कर्मबन्ध के कारण एवं सम्यग्ज्ञान के अभाव से दुखी होकर चतुर्गतियों का भ्रमण कर रहा है । मनुष्य जन्म–मरण से पीड़ित होता हुआ अनेक यातनाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से गुजर रहा है । मानसिक त्रास से त्रस्त है । कलुषित कर्मों से बँधा यह मनुष्य इन कर्मों से संवर अर्थात् रोकने के लिए तीर्थंकर भगवन्तो के गुनगान करता हुआ-उसी पथ पर चलने के संकल्प करता है । वह यही गाता है-हे भगवान ! जिस प्रकार संसार की मोह-माया त्यागकर, उग्र तपस्या द्वारा कर्मों का क्षय करके आप मुक्त बने हैं उसी प्रकार मैं भी मुक्त बनकर आपकी अवस्था को प्राप्त करना चाहता हूँ । अन्धकार का हर्ता दीपक जैसे अन्धकार में मार्ग प्राशस्त करता है, उसी प्रकार सत्पथ से भटके लोगों को आपकी भक्ति प्रकाश प्रदान करेगी । आराधक भगवान से प्रार्थना करता है कि हे नाथ मैं स्वयं प्रकाशित बनूँ और दूसरों का भी मार्ग प्राशस्त करता रहूँ । जिस प्रकार ज्योति जलकर अन्य को प्रकाशित करती है-उसी प्रकार मैं भी स्वयं कष्ट उठाकर अन्य दुखी प्राणियों के कष्ट हरता रहूँ । आरती में गीत-संगीत का प्राधान्य तन्मय बनाता है । संगीत की यह शक्ति है कि वह मनुष्य में आनंद और उत्साह को प्रबल बनाता है । जैनधर्म में यह मंगलदीप सर्वमंगल का प्रतीक है । जैनसंस्कृति की सबसे बड़ी विशिष्टता ही यह है कि उसमें पूजा-विधान, आरती आदि सभी में अपने कल्याण मात्र की भावना नहीं है अपितु विश्वसुख या प्राणीमात्र के सुख की कामना निहत है । संसार के सुखों से ऊपर उठकर हम आत्म सुख तक अग्रसर हों यही हमारी भावना रहती है-

"श्री जिनवर की आसिका लीजे शीश चढ़ाय ।
भव-भव के पातक टरैं, दुख दूर हो जाये" ॥

शांतिपाठ :-

जैन पूजा पद्धति में पूजा का प्रारंभ यदि पंच-परमेष्ठी के आह्वान से होता हैं तो उसकी पूर्णाहूति शांतिपाठ से होती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'शब्द' से ही प्रतीत होता है कि हम अपनी आराधना या पूजा से आत्मशांति एवम् विश्वशांति की भावना भाते हैं। इस शांतिपाठ के माध्यम से हम प्रथम पूजा आदि ईश-गुणगान में कोई त्रुटि रही हो अल्पमति या बुद्धिहीन समझकर हे प्रभु क्षमा करना। वह अपने आप को ज्ञान मतिहीन कहता है। इस कथन में वह अपनी लघुता प्रस्तुत करके हकीकत में तो अपनी विनम्रताही प्रकट करता है। और सच भी है इतनी पूजा-अर्चना के पश्चात यदि इस पूजाका गुण प्रकट न हो तो फिर सारी क्रिया ही शून्य है। दूसरे वह स्वयं के साथ समाज, राष्ट्र और विश्व के मानव के सुख-शांति की भावना व्यक्त करता है। समयपर वर्षा, उत्पादन, वितरण, निरोग, न्याय आदि के साथ सब के सुखों की प्रार्थना करता है। इससे भी आगे बढकर प्राणीमात्र की या जीवमात्र की शांति की प्रार्थना करता है। उसकी प्रार्थना करता है। उसकी प्रार्थना है कि यह धरती शस्य श्यामला रहे, लोग आधि-व्याधि से मुक्त हों। सभी को प्रसन्नता से जीने का अवसर प्राप्त हो। लोग हिंसा, चोरी, परिग्रह से बचकर आजीविका की प्राप्ति करें। व्यक्ति और समाज सत्यनिष्ठ कर्तव्य परायण और परोपकारी बनें। राजा प्रजा में परस्पर प्रेम और विश्वास बढ़े। जिओ और जीने दो की भावना पनपे। मैत्री और कल्याण के स्रोत बहते रहें। धर्म भावना का प्रसारण हो। इस प्रकार सबकी शांति की वांछा करने वाला आत्मशांति के लिए पंचव्रतों के पालन में तल्लीन बनता है। मन और आत्मा की शांति निरंतर प्राप्त करता है।

हमारी समस्त आराधना का सेतु स्वयं से विस्तरता हुआ समष्टि तक रहता है। यदि ऐसी भावना विश्व का हर व्यक्ति या कम से कम जिनके हाथों में सत्ता का दण्ड है- वे ही करने लगें तो विश्व से युद्ध-भय, घृणा दूर हो सकता है। यही कारण है कि जैनधर्म की उदार भावनायें उसे विश्वधर्म बनने का गौरव प्रदान करती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक एवं स्वाध्याय (जैनयोग)

विश्व के प्रायः सभी धर्मों या सम्प्रदायों में ईश्वर या आत्म-प्राप्ति के लिए एकाग्रचित्त होकर नाम स्मरण की महत्ता का स्वीकार किया गया है। यह संभव है कि विधि-विधान में कुछ फर्क हो-पर, उद्देश्य या साध्य तो सभी का एक ही है। ईश्वर से दूर संसार सागर में भटकने का कारण मनकी चंचल वृत्ति और संसार से मुक्त होकर ईश्वर को सान्निध्य या ईश्वरत्व प्राप्त करना मन की एकाग्रता है। मूल में 'मन' में ही केन्द्र हैं। मन और इन्द्रियाँ दो मूल तत्त्व हैं। जबतक मन शासक है-इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं। जहाँ मन शासित होता हैं वहीं इन्द्रियों का उपद्रव प्रारंभ होता है। इन्द्रियों की यही स्वच्छंदता साक्षात्कार नहीं करने देती।

जैन दर्शन में 'सामायिक' शब्द बडा ही महत्त्वपूर्ण है। मैं तो मानता हूं कि यह सामायिक ही योग-ध्यान का जनक है। विविध प्रकार की योग-ध्यान क्रियाओं के बीज इसी सामायिक में विद्यमान हैं। सामायिक का शब्दकोषीय अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है-समय अर्थात आत्मा का एकचित होकर चिंतवन करना। अर्थात आत्माराधना के उत्कृष्ट उपाय के रुप में यह उत्तम क्रिया है। पूजा वगैरह में जहाँ गुणगान करके ईशाराधना की है-वहाँ सामायिक में यही मौन बनकर आराधना की गहराईयों में उतरने का कथन है। सामायिक में बैठने वाला आराधक प्रारम्भ ही इस ध्यान से करता है कि वह बहिर्जगत से क्रमशः अन्तर्जगत में उतर रहा है। यही बाह्य से अंतर अर्थात भौतिक से आध्यात्मिक जगतकी यात्रा ही सामायिक है। सर्व प्रथम विचार करें कि सामायिक में कैसे बैठें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्व के सभी धर्मों के आराध्यों में एक मात्र तीर्थंकरों की मूर्ति ही संपूर्ण शास्त्रीय योग-मुद्रा की प्रतीक है। साधक को भी उसी प्रकार पद्मासन में बैठ कर दोनों हाथ नाभि से नीचे बायें हाथ की हथेली पर दायें हाथ की हथेली रखकर लगभग ४५ अंश का कोना बनाते हुए मेरूदण्ड को बिलकुल सीधे रख कर गर्दन को यत्किंचित खिंची हुइ रखते हुए बैठना चाहिए इस प्रकार बैठने से धीरे-धीरे सीधे बैठने की आदत बनेगी और स्वयं मन आत्म-जगत में स्थिरता प्राप्त करने लगेगा, आँखें न पूरी खुली न पूरी बन्द पर अर्धउन्मीलित रहनी चाहिए और उसका केन्द्र (दृष्टि का) नाक का अग्र भाग होना चाहिए। दोनों आँखों से नासाग्र पर स्थिर होना कुछ दिनों कठिन लगेगा। ललाटबिंदु या आज्ञाचक्र पर जोर पड़ने से दर्द भी होगा पर धीरे-धीरे ध्यान अन्यत्र से हटकर स्वयं इसी क्रिया पर केन्द्रित होगा। इस प्रकार ध्यानस्थ बैठने के पश्चात इस ध्यान को या आसन को दृढ़ बनाने के लिए किसी मूर्ति या तस्वीर को सामने रखना चाहिए। उत्तम तो मूर्ति ही है। इसके लिए एकान्त परमावश्यक है। यह सामायिक करने का प्रथम चरण जिसमें बैठने की महत्ता है-सबसे कठिन लगेगा। पर, 'एकही साधे सब सधै' के अनुसार इसका सधना ही आगे का मार्ग प्रशस्त होना है। दृढ़ता से इस आसन में बैठ कर ध्यानस्थ व्यक्ति कुछ दिनों में ही अभ्यास को आदत में बदल कर आनन्द की अनुभूति करने लगता है। उसने शरीर को स्वतंत्र या स्वच्छन्द रखकर जिस अनुभूति को नहीं पाया-वही वह इस शरीर बद्ध अवस्था में पा सका। शरीर की विविध ग्रन्थियों में से विविध स्राव झरने लगते हैं। एक अलौकिक परिवर्तन हमारे अन्दर होने लगता है। पद्मासन के उपरांत खड्गासन या कायोत्सर्ग की मुद्रा भी योग्य मानी गई है। साधक बिलकुल सीधा खड़ा होकर मेरुदण्ड को सीधा रखकर गर्दन को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किंचित खिची रख कर, हाथों को पूरी तरह से नीचे लटकाये हुए रखकर, दृष्टि नासा पर रखते हुए ध्यानस्थ बनता है। इस प्रकार सामायिक में कैसे बैठें या खडे रहें इसकी चर्चा की। इस प्रकार बैठने या खडे रहने की वैज्ञानिकता पर विचार करें तो सिद्ध होता है जिस प्रकार यंत्र में उत्पन्न होने वाली ऊर्जा शक्ति में निरन्तर धारा प्रवाह-रूप से चक्रावित होते रहने के कारण विशेष शक्ति और तेज उत्पन्न होता है: तेज बढ़ता है-उसी प्रकार यह शक्ति स्रोत का सिद्धांत इस शरीर पर भी लागू होता है। मनुष्य के शरीर से और सविशेष रुप से मस्तिष्क में से ऊर्जा की या तेज की किरणें निरन्तर प्रकट होती रहती हैं। शरीर के हलनचलन से इस ऊर्जा का निःपात होता रहना है। दूसरे शब्दों में यह शक्ति क्षीण होती रहती है। परंतु, ध्यानस्थ मुद्रा में बैठने पर यह अद्भुत ऊर्जा बाहर न जाकर अंदर ही बढ़ती है, केन्द्रित होती है और शरीर में एक विशेष शक्ति या चेतना या जागरुकता को बढ़ाती है। जितना अधिक हम ध्यान में दृढ़ होंगे यह शक्ति उतनी ही अधिक प्रदीप्त होगी। चंचल इन्द्रियों पर संयम का अंकुश लगाती है। साधक में जब इस शक्ति का विशेष विकास होता है तब योग की भाषा में उसकी कुंडलिनी जागृत बनती है। सभी कमल विकसित होते हैं और वह ब्रह्मज्ञान, आत्म दर्शन, सिद्धि या केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

सामायिक में कैसे बैठें ? इसके साथ ही मन को बाँधना या केन्द्रित करना भी आवश्यक है। मन को उच्छृङ्खल मुँहजोर घोडे की तरह माना गया है। इन्द्रियों की विषय वासना में लिप्त यह मन निरंतर बाह्य-भौतिक सुखों की वांछा करता है उसकी प्राप्ति के लिए भटकता है। उन्हें प्राप्त नहीं कर सकने पर दुखी बनता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसकी स्थिति ठीक उस व्यक्ति की भाँति होती है–जिसे तैरना न आता हो, और पानी में कूद पड़ने पर औंधे–सीधे हाथ–पांव पटक कर दुखी होता हो। भौतिक सुखों का लालची यह मन वीतराग तीर्थ कर के दरबार में जाकर भी धन–जन के सुख की याचना करने लगता है। इसलिए इस मन का भटकना छुड़ाना ही इसको स्थिर बनाना है। ध्यानस्थ बैठने का अभ्यासी ही मन की एकाग्रता बना सकता है। हम धीरे–धीरे मन से बाह्य सुखों, लालसा, ईर्षा, क्रोध आदि भावों को निकालने का दृढ़ निश्चय करें। हम मन में यही विचारें कि बाह्य पुद्गल जगत नश्वर है। प्राप्त या प्राप्त संपत्ति मेरा अन्तिम लक्ष्य नहीं। धन, जन मेरे साध्य नहीं हैं। मुझे इससे ऊपर उठकर पहले मनमें प्रेम, करुणा, क्षमा, दया उत्पन्न करना है। संसार से मुक्त होने के लिए बाह्य सुखों को क्रमशः कम करते–करते उन्हें नितांत छोड़ना है। मेरा अन्तिम लक्ष्य आत्मसिद्धि है। इस प्रकार की विचार धारा हमें एकाग्र बनाती है। इसी प्रकार के चिंतन से हम चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर सकते हैं। यदि चित्त एकाग्र न हुआ तो फिर हाथ में माला व मुँह में राम नाम तो चलता रहेगा। परिणाम शून्य ही रहेगा। महत्ता माला या नाम की नहीं मनकी एकाग्रता की है। जो साधक चित्त की सम्पूर्ण एकाग्रता को प्राप्त हो जाता है वही जिन या जितेन्द्रिय बन पाता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी इस चित्तकी महत्ता का स्वीकार कर चुका है। गीताकारने भी मनुष्य के संसार और मुक्ति का मूलकारण मन की चंचलता और एकाग्रता को ही माना है। इस प्रकार तन और मन की एकाग्रता ही सामायिक का प्रथम चरण है।

सामायिक क्या है ?

सामायिक का अर्थ है–समय या कालावधि अर्थात एक साथ जानना या गमन करना। दूसरा अर्थ है आत्मा। जिस क्रिया से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा को समझने का अवसर प्राप्त हो वही सामायिक है। जब साधक बाह्य समस्त क्रिया कार्यों से मुक्त बनकर मन-वचन और कर्म की एकाग्रता से बाह्य पदार्थों से मुक्त होकर आत्मा के साथ एकाकार स्थापित करता है तभी उसके सामायिक होती है। इस आत्म स्थिरता के होने पर वह यही चिंतवन करता है कि मैं स्वयं ज्ञाता, दृष्टा हूँ ज्ञेय और ज्ञाता हूं। समता का भाव ही एकमात्र भाव रुप रह जाता है। साधक सभी पदार्थों से, अपने-पराये के भाव से मुक्त बन जाता है। अरे! विपरीत वृत्ति रखनेवालों के प्रति भी माध्यस्थ भाव रखना है। प्रसंशा और निंदा में भी स्थिर रहता है। उसका लक्ष्य तो तीर्थंकर पद की प्राप्ति ही बन जाता है। इस प्रकार सामायिक करने वाले का प्रथम लक्षण समकित भाव धारण करना है। सामायिक करने वाले का दूसरा लक्षण है राग-द्वेष से मुक्त होकर द्वादशांग वाणी में श्रद्धा रखना। वह जिन वाणी का निरंतर अध्ययन-मनन करता हुआ निश्चय आत्मप्रदेश में दृढ़ बनता जाता है। इन्द्रियविजेता बनना ही उसका मूल उद्यम बन जाता है। वह बाह्य भय या आक्रमण में भी सुमेरू सा दृढ़ होकर दृढ संयमी बनता जाता है। आचार्यों ने सच ही कहा है कि सामायिक करने वाला जब बाह्य एवं अन्तरंग समस्त पदार्थों में कषाय का निरोध करता है तभी उसे सामायिक फलती है। यहाँ हम पूरे जैनयोग की चर्चा नहीं कर पायेंगे। पर हम इतना समझ सके हैं कि सामायिक करने वालेको निर्लेप और निर्लोभ भाव से रागद्वेष त्याग करके सामायिक करनी चाहिए। प्राणी मात्र के कल्याण की भावना करते हुए मैत्रीभाव को धारण करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक घर में भी की जा सकती है । परंतु, उत्तम स्थल तो मंदिर, एकान्तवन–बगीचा या ऐसा एकांत स्थान जहाँ जीव-जंतुओं का विक्षेप न हो । आवाज (शोर) न हो, चित्त को अस्थिर बनाने वाला वातावरण न हो । ऐसे स्थान में ही चित्त की दृढ़ता बन सकती है । सामायिक का समय पूर्वाह्न मध्याह्न एवं अपराह्न माना गया है । साधक की शक्ति के अनुसार इसका कोई अधिक से अधिक काल निर्धारण नहीं है–पर, कम से कम जघन्य काल अंतरमुहूर्त अर्थात ४८ अड़तालीस मिनिट का माना गया है ।

सामायिक की विधि का हम वर्णन कर ही चुके हैं । यहां हम उसकी कुछ क्रियाओं पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे । साधक को स्नानादि करके शुद्ध वस्त्र धारण कर एकांत में या जिन प्रतिमा के समक्ष पूर्व या उत्तर दिशा में मुँह करके जिनवाणी, जिनधर्म और जिनबिंब की त्रिकाल वंदना करनी चाहिए । वह इस काल में मात्र देव मात्र-गुरु का चिन्तन करते हुए संसार मुक्ति ही कामना करे । णमोकार मंत्र का निरन्तर जाप करे । ऐसा सामायिक करने वाला साधु तुल्य है–वह संसार के कर्मबन्धों का क्षय करता है । उसकी चित्तवृत्ति इतनी निर्मल होने लगती है कि जीवन के व्यवहार में वह ईमानदार, सत्यवक्ता एवं मैत्री का व्यवहार करने लगता है । उसकी समता मैत्री विश्वशांति का आह्वान करती है ।

सामायिक योग-ध्यान का ही मूल रूप है । इस क्रिया से बहिरात्मा अन्तरात्मा से जुड़कर परमात्मा बनने का प्रयत्न करती है–वही योग है या ध्यान में बैठने का महत्त्व सामायिक में बैठने की क्रिया में स्वयं वर्णित है । योग का स्वीकार वेद, उपनिषद, सांख्यदर्शन, नाथ, सिद्ध सम्प्रदाय और कबीरपंथ में है । इन सभी ने योग की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन योग शास्त्रियोंने गुदा-भाग से मस्तिष्क भाग तक पांच या सात स्थानों को मुख्य केन्द्र मानकर चक्रों या कमलों की कल्पना की है। साधना की उत्तरोत्तर प्रगति से ये चक्र जागृत बनते हैं। कमल खिलते हैं और साधक निरंतर ईश्वरमय बनता जाता है। जब मस्तिष्क का सहस्र दल कमल पूर्णरूप से खिल जाता है तब साधक योग की चरम भूमि में प्रस्थापित हो जाता है। इन शास्त्रों में इन केन्द्रों के विविध रंगों, प्रभावों एवं परिणामों की चर्चा की गई है। इस योग एवं उसकी क्रियायें और फलश्रुति पर पृथक ग्रंथ ही लिखा जा सकता है। सहस्र कमल से विकसित योगी अनहदनाद सुनता है। इच्छानुसार ही कार्य करता है। दूसरे शब्दों में वह इन्द्रिय विजेता बन जाता है। मन की शांति और विश्वशांति के लिए आज योग के सर्वत्र प्रयोग हो रहे हैं। योग साधना अर्थात सामायिक की साधना ही है।

स्वाध्याय :-

सामायिक के साथ ही स्वाध्याय संलग्न है। मैं तो यह मानता हूँ कि देवदर्शक के लिए गये हुए श्रावक की मन्दिर जाने की पूर्णविधि या क्रिया तभी पूर्ण होती है जब वह दर्शन, पूजन, आरती, सामायिक और स्वाध्याय करे। साधारणतः स्वाध्याय शब्द को अर्थ पढना या वांचन करने के संदर्भ में ही प्रयुक्त होता है। आचार्यों ने भी उत्तम द्वादशांग वाणी (शास्त्र) का वांचन श्रवण उत्तम तप का ही अंग माना है। इसके लिए भी सामायिक की भाँति त्रिकाल उत्तम समय माना है।

इस स्वाध्याय शब्द को आध्यात्मिक संदर्भ में देखें तो इसका अर्थ होगा 'स्व' अर्थात स्वयं या आत्मा। अध्याय से तात्पर्य है जानना समझना। इस प्रकार आत्मा के विषय में जानना, समझना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनन करना, चिंतन करना या विचारना ही स्वाध्याय है। मैं स्वयं (आत्मा) के विषय में जान सकूँ इससे बड़ा ज्ञान और क्या हो सकता है! आज के युग की विडंबना तो यह है कि आत्मा तो दूर हम व्यवहार में भी अपने विषय में कम ही जानते हैं। हमारी पर छिन्द्रान्वेषी दृष्टि दूसरों का ही या यों कहें दूसरों के दोष देखने में ही अपनी सिद्धि मानती है। इससे राग-द्वेष ही जन्मते और पनपते हैं। इसके स्थान पर यह स्वाध्याय हमें सिखाता है कि मैं सदैव यों विचारुँ कि मैं कौन हूँ? मेरा मूल स्वरुप व स्वभाव क्या है? 'सर्वार्थसिद्धि' एवं 'चारित्र्यसार' ग्रंथो में कहा है कि आत्मा का हित करनेवाला अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। व्यावहारिक दृष्टि से आगमग्रंथों को वांचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा एवम् धर्मकथा कहना व सुनना ही स्वाध्याय है। इससे भी आगे पढ़ने के पश्चात उसको समझना और जीवन में उतारना उससे भी उत्तम स्वाध्याय है। उत्तम चरित्रों का पठन उत्तम गुणो का विकास करता है, धर्म के प्रति श्रद्धान्वित बनाता है। सत शास्त्रो के पठन से मिथ्यादर्शन-मिथ्या ज्ञान का अस्त होता है और सम्यग्ज्ञान का उदय होकर उत्तम चारित्र्य की ओर उन्मुख करता है। जैनदर्शन तो कहता है कि उत्तम पंचपरमेष्ठी के ध्यान में लीन, उनके गुणों का स्मरण करने वाला उन्हीं जैसा अमर पद प्राप्त करता है। भगवती आराधना में उल्लेख है कि सर्वज्ञ देव द्वारा कथित बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय उत्तम तप है। ज्ञानी साधक अन्तर्मुहुर्त में कर्मों का क्षय कर सकता है। इतना ही नहीं अनेक प्रकार के व्रतोपवास करने वाले ज्ञानरहित व्यक्ति की अपेक्षा स्वाध्याय-रत सम्यग्दृष्टि अपने परिणामो को विशेष शुद्ध बना सकता है। धवला में कहा है कि जिन्होंने सिद्धांतो का उत्तम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रीति से अध्ययन किया है ऐसे पुरुषों का ज्ञान सूर्य की किरणों सा निर्मल होता हैं। अध्ययन एवम् मनन से मेरू जैसा निष्कम्प (अटल) अष्टमल रहित, त्रिमूढ़ता रहित सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। स्वाध्याय करने वाला कभी नर्क या तिर्यंच गति को प्राप्त नहीं होता पुनश्च कहते हैं कि जिनागम जीवों के मोहरूपी मल को दूर करता है। अज्ञान का विनाश करता है और मोक्षपथ प्रशस्त करता है। स्वाध्याय को समझ कर विवेक पूर्वक जो उसका उपयोग करता है उसके कर्मों की निर्जरा होती है।

स्वाध्यायी व्यक्ति में ज्ञान की वृद्धि के लिए जिज्ञासावृत्तिका होना भी आवश्यक है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा का हल या समाधान प्राप्त होता जाता है त्यों-त्यों पाठक को अलौकिक आन्नद की प्राप्ति होती जाती है। जिन-वचन मन को द्विधामुक्त बनाते हैं। प्रज्ञावान बनाते हैं मनुष्य में व्याप्त अश्रद्धा, लोकमूढता, देवमूढ़ता और गुरुमूढत का निग्रह होता है। चंचल कुतर्कयुक्त मन को शांति मिलती है।

आत्मानुशासन में एक सुन्दर रुपक प्रस्तुत करते हुए लिखा है यह श्रुत स्कंध रुपी वृक्ष, विविध धर्मात्मक पदार्थ रुप फूलों और फलों के भार से नत है। वचनरुपी पत्तों से आच्छादित है। विस्तृत विविध नयरुपी डालियों से भरपूर और उन्मत है। यह समीचीन एव विस्तृत मतिज्ञान रुप जल से सिंचित है। ऐसे वृक्ष पर बुद्धिमान साधुको अपने मनरुपी मर्कट को स्थिर करना चाहिए।

इस विवेचन को संक्षिप्त में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि स्वाध्याय में चित्त की एकाग्रता; उत्तम पठन, ज्ञान की अंतना और उसे जीवन में उतारकर मोक्षमार्ग पर आरुढ होने की भावना वाला पथिक ही सच्चा स्वाध्यायी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाध्याय के प्रारंभ में ही मैंने 'स्व' शब्द की व्याख्या की है। 'स्व' आत्मा का ही पर्यायवाची शब्द है। हम अनेक बार स्वतंत्र या स्वाधीन शब्द का प्रयोग करते हैं। इन प्रयोगों के गर्भ में हमारी भावना यही रहती है कि हम अपने ही तंत्र में रहें। हमारे व्यवहार से अन्य का अहित न हो। हम अपनी इन्द्रियों या वृतियों को ऐसा न बनने दें जो दूसरों के लिए कष्टकर हों। यहाँ स्वाधीन भी 'अपने में अधीन' या स्वयं पर स्वयं के संयम का परिचायक शब्द है। हम तभी स्वाधीन हैं जब अपनी तरह दूसरों को भी जीने का अधिकार और स्वतंत्रता प्रदान करें। उनमें रुकावट न बनें। हमारा यही संयम भाव स्व-पर को आनन्द देनेवाला तत्व है। इस दृष्टि से ये स्वाध्याय, स्वतंत्रता स्वाधीनता आदि शब्द व्यक्ति को भौतिक और आदिभौतिक या व्यवहार और निश्चय में उन्नत बनाते हैं।

स्वाध्याय को आज के युगीन संदर्भ में देखें तो आज का शिक्षण जिसमें स्वाध्याय की निरंतर न्यूनता होती जा रही है। आज का विद्यार्थी और युवक यदि पढ़ता भी है तो ऐसे साहित्य को जो कामोत्तेजक, तिलस्म, जासूसी आदि भौतिकता की अग्नि को बढ़ावा देनेवाला है। अरे! आज का विद्यार्थी अपने नियत पाठयक्रम से तो जैसे विमुख ही बनता जा रहा है। उसने ऐसा गलत पढना शुरू किया है जिससे उसकी भौतिक भूख बढी। संयम टूटा। अनास्था जन्मी। परिणामतः उसमें निराशा, कुंठा, बैचैनी और कुकृत्य या दुष्कृत्य के भाव बढ रहे हैं। वह दिशा शून्य बन रहा हैं। आग से आग को बुझाने के प्रयास में वह जल ही रहा है। मानसिक विकृतियां और बीमारियाँ इनके कुपरिणाम हैं।

सच तो यह है कि जिस विज्ञान ने समस्त शोधकार्य शास्त्रों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के अध्ययन से किए–उसी विज्ञान युग का मानव उनसे दूर भाग रहा है। आहार-विहार, आचार-विचार, जीवन जीने की कला और सच्चा मार्गदर्शन स्वाध्याय से ही प्राप्त हो सकता है

पश्चिममुखी हम भौतिक सुखों के लिए लालायित हैं पर पश्चिम जो भौतिक सुखों से त्रस्त है–वह हमारे ग्रंथो का आध्ययन कर मन की शांति के लिए स्वाध्याय सामायिक, योग-ध्यान की ओर मुड़ रहा है। हमारा दुर्भाग्य है कि हम घर के जोगी की कीमत ही नहीं आंक पाते।

सत्–स्वाध्याय ही वह रामबाण औषधि है जो संयम का आनंद देकर संघर्ष से बचाती है। हम वह पाठ पढना या पढाना चाहते हैं जो ऐसे नागरिक पैदा करे जो अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठावान हों कुमार्ग से धनसंचय न करें। संयमी बने। उनकी मन की शांति का विस्तार ही विश्वशांति तक विस्तृत हो यह आवश्यक है।

मुझे पूरा विश्वास है कि हमारा युवावर्ग यदि जैन शास्त्रों का पठन करे तो उसकी अन्य समस्यायें सुलझ जायेंगी। ग्रथियों से मुक्ति मिलेगी। वह एक कुशल नागरिक बन सकेगा यही अध्ययन उसे आत्मा की परख करायेगा। संभव है वह कर्मक्षय कर अमरत्व प्राप्त कर सकेगा।

प्रतिक्रमण (आलोचना)

प्रतिक्रमण का सामान्य अर्थ है प्रायश्चित या आत्मालोचन। अथवा मैंने जहाँ तक गति की है वहाँ प्रतिगति करके वापिस लौटना। इस शब्द में यही भावबंध निहित है कि मुझे संसार के व्यवहारिक कार्यों में जहाँ तक जाना पड़ा है अब उससे मैं वापिस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लौटूँ । पुनः आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करूँ । मेरी भावना ऐसी होनी चाहिए कि मैंने जो कार्य किए हैं, जो मेरे आत्मस्वभाव के प्रतिकूल थे उनसे मुक्त होकर पुनः आत्मरत बनूँ । संसार से विरक्त आत्मार्थी निरंतर आत्मालोचन करता हुआ आत्मशुद्धि का प्रयास करता रहता है सामान्यतौर से यों समझिए कि प्रतिक्रमणार्थी संध्या के समय यह आत्मनिरीक्षण करता है कि दिनभर में कृत-कारित या अनुमोदना द्वारा मेरे मन-वचन व कर्म से ऐसा कोई भी कार्य हुआ हो जिससे प्राणीमात्र के हृदय को ठेस पहुँची हो, किसी की विदारणा हुई हो तो उसका वह पश्चाताप करता है और प्रायश्चित लेता है । इससे कृत्य अशुभ कार्यों की स्वनिंदा कर पुनः न करने की दृढ़ता प्राप्त करता है । एवं अन्य गलत कार्यों से भी बच जाता है । इससे चित्त निर्मल सरल एवं करूणा-मैत्रीमय बन जाता है । मानवता का विकास होता है । सही अर्थों में मनुष्यताका उदय एवं विस्तार होता है । यदि हर व्यक्ति अपनी त्रुटियों का स्वयं सही परीक्षण करे तो विश्व में सचमुच 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना पनप सकती है । भय या युद्ध आदि की समस्या स्वयं सुलझ सकती है ।

निरुक्ति के आधार पर इसका अर्थ होगा कि मेरे दोष मिथ्या हों इस प्रकार गुरु के समक्ष निवेदन करना ही प्रतिक्रमण है । प्रमादवश हो गये दोषों को जिस प्रायश्चित के माध्यम से दूर किया जा सके-वही प्रतिक्रमण की क्रिया और भावना है । इस आत्म प्रदेश के साथ चिपके हुए कर्म-मल इसी अग्नि से नष्ट होते हैं । किसी भी क्रिया के अतिचार दूर होते हैं ।

शिष्य या साधक गुरू के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करता है इससे उसके हृदय की सत्यता एवं ऋजुता ही प्रकट होती है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह दोषों के प्रति लज्जित होता है । गुरु से प्रायश्चित लेकर उन्हें दूर भी करता है । कहा है कि प्रायश्चित रुपी अग्नि में तप्त आत्मा ही कंचन और कुंदन सा बन सकता है ।

निश्चय और व्यवहार की दृष्टि से इसके दो भेद हैं । निश्चित दृष्टि से पूर्व कृत जो अनेक प्रकारके शुभाशुभ कर्म हैं, उनसे जो आत्मा स्वयं को दूर रखता हैं वह आत्मा का प्रतिक्रमण है । रागादि भावों को त्यागकर आत्म-ध्यान करना, जीवों की विराधना का त्याग कर प्रतिक्रमण में अनाचार का त्याग करके आचार में, उन्मार्ग छोड़कर सन्मार्ग में, शल्यभाव छोड़कर निःशल्य भाव में अगुप्तिभाव को त्यागकर त्रिगुप्ति भाव में एवं आर्त रौद्र ध्यान को त्यागकर शुक्लध्यान और सम्यक भाव से जब आत्मभावना भाई जाती है तभी आत्म-प्रतिक्रमण होता है । ऐसे भावों से जो प्रतिक्रमण करता है वह निश्चय रूपसे कर्मों का क्षय करके निजात्म शुद्धता प्राप्त करता है ।

व्यावहारिक दृष्टि से हमारी यही भावना होनी चाहिए कि जीवन कार्यों में स्वार्थवश या प्रमादवश हिंसादिक पचपाप हुए हों तो उन्हे दूर करने का निरंतर प्रयास करें । पुनः उस ओर उन्मुख न हों इसका ध्यान रखें । इस आत्मलोचन से सद्धर्म का प्रकटीकरण होता है । इसे ध्यान की प्रारंभिक क्रिया समझनी चाहिए । पापादिक से मुक्त व्यक्ति ही आत्मस्थिरता प्राप्त कर सकता है । चित्त की एकाग्रता पा सकता है । वही कर्मों के क्षय का प्रयत्न कर सकता है । शास्त्रीय भाषा में कहूँ तो कर्मों के संवर की प्रथम सीढी यही प्रतिक्रमण है ।

सामायिक और प्रतिक्रमण में थोड़ा सा भेद है सामायिक में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकाग्रचित्त होकर आत्मसाधना ही एक मात्र लक्ष्य बनने लगता है। जबकि प्रतिक्रमण में किए हुए अशुभ कर्मों का प्रायश्चित किया जाता है। परंतु मेरी दृष्टि से सामायिक में स्थिर होने की पूर्वदशा और शुद्ध भाव प्रतिक्रमण हैं। प्रतिक्रमण द्वारा परिशुद्ध मन निर्विकार और निर्भार बनता है तभी सामायिक में स्थिर हो पाता है।

ऊपर उल्लेख किया है कि प्रतिक्रमण अर्थात प्रायश्चित। इस प्रायश्चित से मनमें विकार रूप स्थित अहम् गल जाता है जिसे आत्मसंशोधन का मार्ग प्रशस्त होता है। मनुष्य का सर्वाधिक दूषण तत्व अहम् है-यही दूर हो जाये तो फिर उस सा सरल-तरल कौन होगा? ऐसा सरल व्यक्ति ही भगवान का नैकट्य प्राप्त करता है। इस प्रतिक्रमण को इसीलिए तपश्रेणी में माना गया है।

यह प्रायश्चित जीवन जीने की दिशा और कला सिखाने वाली पद्धति है मनुष्य को अहम्, क्रोध, परावहरण,वृत्ति, परछिद्रान्वेशण, हिंसा आदि से सद्य मुक्त बनाता है।

उपवास-एकासन व्रत :-

यद्यपि यह शिक्षाव्रत का ही एक प्रकार है। परंतु इसकी महत्ता और स्वीकार सर्वाधिक रूपसे, विविध विधि विधानों के साथ होता है। इसलिए पृथक से चर्चा व पद्धतिका वर्णन प्रस्तुत है।

साधारण प्रचलित अर्थ की दृष्टि से उपवास अर्थात भोजन का न करना किया जाता है। शब्दकोषीय अर्थ यों होगा कि उपवास अर्थात आत्मा में निवास करना। अर्थात समस्त प्रकार की एषणाओं से मुक्त होकर आत्मचिंतन में लीन होना ही उपवास की साधना करना है। व्यवहार से कहा जा सकता है कि समस्त प्रकार के भोजन का त्याग उपवास है। शास्त्रों में कहा गया है कि उप-शमन अर्थात उपवास। अर्थात इन्द्रियों पर संयम रखना दूसरे शब्दों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहें तो जब इन्द्रियाँ स्वविषयों से विलग होकर शुद्धात्म स्वरूप में लीन होती हैं तभी उपवास होता है। इस प्रकार व्यवहार और निश्चय के परिप्रेक्ष्य में यह तो सत्य ही है कि उपवास के अन्तर्गत इन्द्रिय संयम की मुख्यता है। इसकी साधना के प्रथम चरण में चतुर्विध आहार के त्यागको स्वीकार किया है। दिनभर भोजन न करना उपवास है और एक बार भोजन करना एकासन है। इस व्याख्या को लेकर यह तर्क या प्रश्न किया जा सकता है कि इस देश में ऐसे लाखों लोग हैं जिन्हें एक समय भी पूरा भोजन नहीं मिलता। दो-दो दिन भूखे रहा जाते हैं। इसी प्रकार रोगिष्ठ व्यक्ति को चिकित्सक लंघन कराते हैं या किसी को कुपच के कारण भूख नहीं लगती और वह खाना नहीं खाता या कभी प्रवास आदि में भोजन उपलब्ध नहीं बनता ऐसी परिस्थितियों में एक बार खाना या भूखे रह जाना क्या एकासन या उपवास कहलायेगा? संक्षिप्त उत्तर यही है कि ये सब एकासन या उपवास नहीं है। आगे इनका वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय उल्लेख हो ने पर तर्क को समाधान और प्रश्न को उत्तर मिल जायेगा।

मैं प्रारंभ में ही कह चुका हूँ कि आत्मसात होना ही उपवास है। उपवास की प्रथम विशिष्टता ही है आत्म संयम या रसना इन्द्रिय पर नियमन। समस्त प्रकार के स्वादिष्ट और प्रिय व्यंजन उपलब्ध होते हुए भी मन को दृढ़ बना कर भोजन का प्रसन्नता पूर्वक त्याग करना ही उपवास है। ऐसे उपवास में लंघन या भुखमरी का समावेश नहीं होता। ऐसे उपवास में त्याग की भावना, भावना में प्रसन्नता का समावेश होता है। भूख पर विजय अर्थात इन्द्रियों पर विजय। साधना में अप्रमादी बन कर दृढ होने का अभ्यास यहीं से प्रारंभ होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपवास के दिन उपवासी को संपूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन शरीर और आत्मा दोनों से करना चाहिए। उसे देव या गुरु के समक्ष नियम लेना चाहिए। उसे चौविहार अर्थात उपवास से पूर्व अगले दिन एकासन तथा उपवास के दूसरे दिन एकासन का नियम लेना चाहिए। यदि इतना न बने तो एक दिन का उपवास का नियम लेना चाहिए। उपवासी को उपवास के दिन प्रातःकालसे ही शुद्ध होकर मंदिरजी में जाकर दर्शन, जप, सामायिक, स्वाध्याय में समय व्यतीत करना चाहिए। पूरे दिन गृहस्थ के आरम्भादि कार्यों से दूर रहना चाहिए। शृंगार, मुखमंजन, स्नानादि से दूर रहे एवं जल या भोजन कुछ भी ग्रहण न करें। दूसरे शब्दों में कहें तो साधू की दिनचर्या का पालन करना चाहिए। पूरे समय भगवान की भक्ति में लीन रहे। धर्मकथा का कथन व श्रवण करे। यदि गांव में मुनिमहाराज आदि हों तो आहार करावें। अधिक से अधिक समय सामायिक में बिताये। प्रतिक्रमण करे। भूमि पर ही शयन करे। उपवास के दिन भूखा होने से अधिक निद्रा लेने से उपवास का अतिचार दोष लगता है।

जैनधर्म निर्देश करता है कि उपवास व्रत का धारक तपस्या में स्थिर बनता है। आरंभ परिग्रह से मुक्त बनता है। उसे अहिंसा व्रत का फल प्राप्त होता है। भोजन के त्याग के साथ रागादि भावों में कमी और क्षय होता है। इन्द्रियों का दमन नहीं–अपितु संयमन होता है और इससे आत्मा का पोषण होता है। भोजन के त्याग के साथ कषायादि पापकर्मों का भी त्याग करना आवश्यक है अन्यथा उपवास का कोई फल नहीं मिल सकता। तात्पर्य यह कि व्यक्ति इस उपवास व्रत की साधना द्वारा क्रमशः तपस्या का कठोर साधना की ओर उन्मुख होता है। भूखे रहने का आनंद वही ले सकता है जिसने उपवास की महिमा समझी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकासन

शाब्दिक व्याख्या अत्यंत सरल है। एक आसन से बैठकर भोजन करना एकासन है। परंतु यहाँ इसका प्रयोजन एक प्रकार से उपवास के संदर्भ में ही हुआ है इसका अर्थ है कि एक ही समय इच्छा से कम निःस्वाद शुद्ध भोजन करना ही एकासन है। मुझे तो लगता है कि एकासन में उपवास से अधिक संयम की आवश्यकता या दिनचर्या होती है। एकासन करने वाले की भोजन के अलावा संपूर्ण क्रिया उपवासी की भांति ही होती है। मात्र शक्ति की अपेक्षा वह भूखा न रह कर एक बार भोजन करता है। उपवासी को भोजन ही नहीं करना है जबकि एकासनी को भक्ष्य पदार्थ सन्मुख होते हुए भी न्यून भोजन करना है। उसकी कसौटी तो इसी में है कि प्रिय भोज्य पदार्थों में से ही त्याग करे, रस त्याग करे और निर्लेप भाव से भोजन करे। उसका उद्देश्य भोजन करना नहीं होता बल्कि साधना के लिए शरीर को पोषण देना ही होता है। एकासन करने वाला अमुक भोज्य-पदार्थ भोजन में मिलें इसकी आशा व अपेक्षा नहीं रखता उसका आग्रह मात्र शुद्ध एवं सात्विक भोजन से होता है। उसकी वृत्ति स्वादलोलुप नहीं होती। मैं भूखा रहा हूँ ऐसी मनोभावना उसकी नहीं होती और न भूख साधने का अहम ही होता है। इस प्रकार भोजन, स्वाध्याय, सामायिक, प्रतिक्रमण में लीन रहता है। ऊनोदर रहकर संयम धारण करता है। भोजन के प्रति अपनी लालसा कम करता है।

अंतमें इतना ही प्रतिफलित है कि व्यक्ति कम खाकर स्वास्थ्य लाभ तो प्राप्त करता ही है—वह इन्द्रिय संयम भी पालता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखक परिचय

*

आचार्य डॉ. शेखरचन्द्र जैन

एम. ए., पी-एच. डी., एल-एल. बी.,
साहित्यरत्न

*

शिक्षण व कार्यक्षेत्र

अहमदाबाद में हिन्दी के प्राध्यापक
अध्यक्ष : हिन्दी विभाग
श्रीमति सद्गुणा सी. यु. आर्ट्स कॉलेज
फोर गर्ल्स अहमदाबाद

*

साहित्यिक रुचि : काव्य, कहानी, एकांकी, एवं समीक्षा लेखन।

प्रकाशित साहित्य : राष्ट्रीय कवि दिनकर और उनकी काव्य कला।
'घर वाला' कठपुतली का शोर (काव्य)
नए गीत-नए स्वर, चेतना (अन्य कवियों के साथ)
'टूटते संकल्प' (कहानी संग्रह)
'इकाइयाँ-परछाइयाँ' (कहानी संग्रह-सह-संपादन)
The Directory of Gujarat (सह-संपादन)
कापडिया अभिनंदन ग्रन्थ (संपादित)

आध्यात्मिक प्रकाशित साहित्य :

* मुक्ति का आनन्द
* जैनाराधना की वैज्ञानिकता
* जैनधर्म सिद्धांत और आराधना
* मृत्युञ्जयी केवली राम (उपन्यास)
* तन साधो : मन बांधो (ध्यान संबंधी) एवं मृत्यु महोत्सव (प्रेसमें)

सह संपादक : The Jain (Periodical of Jain Society-Europe)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri http://www.siddhanta.org